भारतीय शासन व्यवस्था परिवर्तन विचार मंच का मुखपत्र

वर्ष- 1, अंक- 2-3 (संयुक्तांक), मार्च, 2014

राष्ट्रीय कायाकल्प

(हिन्दी-त्रैमासिक)

भारत में लोकतंत्र

कितना वास्तविक, कितना भ्रामक

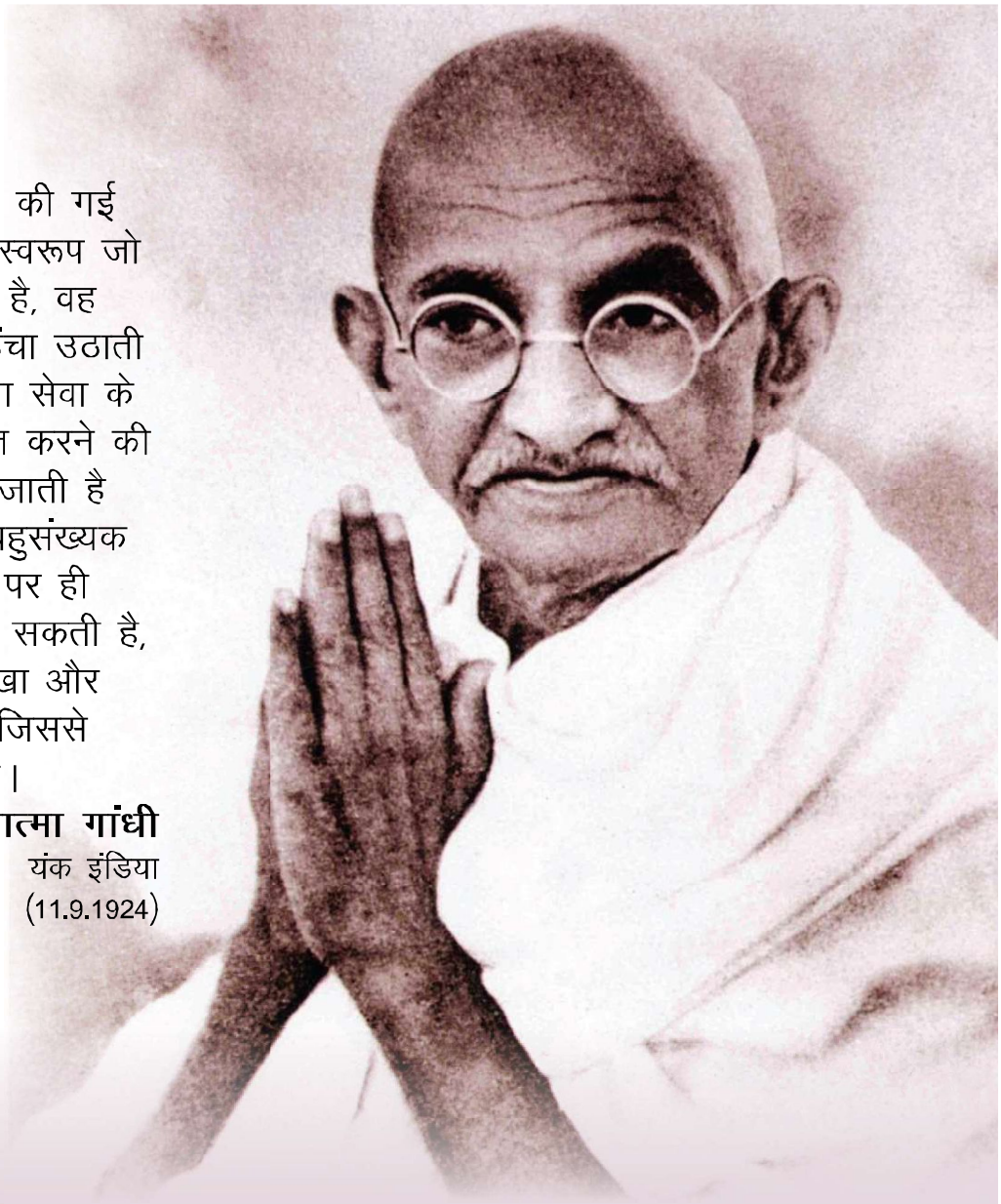

ईमानदारी से की गई सेवा के फलस्वरूप जो सत्ता मिलती है, वह मनुष्य को ऊंचा उठाती है । जो सत्ता सेवा के नाम पर प्राप्त करने की कोशिश की जाती है और केवल बहुसंख्यक मतों के बल पर ही प्राप्त की जा सकती है, वह निरा धोखा और भ्रमजाल है, जिससे बचना चाहिए।

—महात्मा गांधी

यंक इंडिया
(11.9.1924)

आजादी का अर्थ हिन्दुस्तान के आम लोगों की आजादी होना चाहिए, उनपर आज हुकूमत करने वालों की आजादी नहीं। हाकिम आज जिन्हें अपने पाँव तले रौंद रहे हैं, आजाद हिन्दुस्तान में उन्हीं लोगों की मेहरबानी पर हाकिमों को रहना होगा। उनको लोगों के सेवक बनना होगा और उनकी मर्जी के मुताबिक काम करना होगा।

आजादी नीचे से शुरु होनी चाहिए। हर एक गाँव में जम्हूरी सल्तनत या पंचायत का राज होगा। उसके पास पूरी सत्ता और ताकत होगी।

—महात्मा गांधी

हरिजन सेवक
(28.7.1946)

भारतीय शासन व्यवस्था परिवर्तन विचार मंच का मुख पत्र

राष्ट्रीय कायाकल्प

वर्ष: 1 अंक: 2-3 (संयुक्तांक)
मार्च 2014

संपादक
डा. त्रियुगी प्रसाद

संपादन सहयोगी
राजेश शुक्ल

सहायक संपादक
विपेंद्र

सहयोग राशि

प्रति अंक	रु.30
व्यक्तिगत वार्षिक	रु. 110.00
संस्थागत वार्षिक	रु. 150.00

संपर्क:
173 बी, श्रीकृष्णपुरी
पटना 800001
टेलीफोन : 0612-2541276
email: rashtriyakayakalp@gmail.com
web: www.fcsgi.org

मुद्रक:
वातायन, फ्रेजर रोड, पटना
फोन: 0612-2222920

इस अंक में

भारत में छद्म लोकतंत्र का उभरता स्वरूप 11
संपादक की कलम से 3
मत-सम्मत 2

भारतीय शासन व्यवस्था परिवर्तन अभियान की वैचारिक रूपरेखा 28
प्रश्नोत्तर के माध्यम से अभियान को समझना 30

भारत में लोकतंत्र की मृग मरीचिका
भारत में लोकतंत्र की स्वयंसिद्धि इस बात से प्रमाणित होगी कि हमारे जनजीवन में, हमारे समाज में और विशेषकर हमारी सरकार में कितना लोकतंत्र है। इसकी गवेषणा और विवेचना अपेक्षित है।
5

देश में चल रहे छाया युद्ध
प्रयासों और लड़ाइयों के बावजूद ये समस्याएं और विकराल होती गई हैं, विकृतियों और भी विकृत होती गई हैं, इलाज के बावजूद बीमारी और बढ़ती गई है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम इन समस्याओं और विकृतियों के मूल में जो विकृति है, जो हमारी मौलिक समस्या है, उसकी तरफ हमारा ध्यान नहीं है?
16

व्यक्ति और व्यवस्था 22

राष्ट्रीय जीवन में अघोषित शोषण के आयाम 24

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में लोकतंत्र 26

आज के युग में हिंद स्वराज क्यों? 14

स्वामित्वाधिकारी, मुद्रक व प्रकाशक डा. त्रियुगी प्रसाद द्वारा वातायन मीडिया एण्ड पब्लिकेशंस प्रा.लि., अयोध्या अपार्टमेंट, फ्रेजर रोड, पटना में मुद्रित एवं 173 बी, श्रीकृष्णपुरी, पटना 800001 से प्रकाशित। संपादक:डा. त्रियुगी प्रसाद

मत–सम्मत

गांधी विचार को आगे बढ़ायेगी यह पत्रिका

गांधी विचार की प्रासंगिकता को सामने रखते हुए एक अच्छी पत्रिका राष्ट्रीय कायाकल्प सामने आयी है। बहुआयामी सोच पर आधारित गांधी विचार के प्रचार–प्रसार की अभी जरूरत तो है ही, अतः यह पत्रिका उस कमी को पूरा करेगी। विकसित कहे जाने वाले बड़े देशों के बुद्धिजीवी यह मान रहे हैं कि अगर मानव सभ्यता को विनाश से बचाना है तो गांधी विचार को जमीन पर उतारने की पहल करनी ही होगी। हिंदुस्तान की परिस्थिति के मद्देनजर गांधी विचार एक अनिवार्य विकल्प है, क्योंकि हिंदुस्तान की परंपराएं और इसकी प्लूरल सांस्कृतिक पहचान को ही दांव पर लगाए जाने की कोशिशें हो रही हैं।

रजी अहमद, मंत्री, गांधी संग्रहालय, पटना

उम्मीदों से भरा राष्ट्रीय कायाकल्प

राष्ट्रीय कायाकल्प के प्रवेशांक में प्रकाशित लेखों को पढ़ा। इनमें हमारे देश के हित में काफी विचारणीय, उपयोगी एवं प्रेरक बातें हैं। इसमें राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के विचारों एवं दर्शन को उल्लेखित किया गया है। इसमें ऐसे शासन की दिशा दिखती है जो गरीबी एवं भ्रष्टाचार जैसे मसलों को दूर कर सकती है। मुझे पूरा भरोसा है कि राष्ट्रीय कायाकल्प को बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों तथा आमजन के बीच स्वीकार्यता मिलेगी।

डा. ए.के.गुप्ता , प्रोफसर एवं विभागाध्यक्ष
इंटरनल मेडिसिन विभाग, दरभंगा मेडिकल कॉलेज,लहेरियासराय

नियंत्रण रखने की जरूरत

राष्ट्रीय कायाकल्प का प्रवेशांक देखा। शासन व्यवस्था में सुधार से संबंधित आपके सुझावों को अगर उनकी मूल भावनाओं के अनुसार लागू कर दिया जाए तो अवश्य ही लाभ होगा। पर आपके कुछ विचारों से मेरी भिन्नता है। ग्राम पंचायत स्तर पर शक्तियां देने मात्र से स्थितियां नहीं सुधरने वाली। बिहार में पंचायतों को अधिकार देने का काम हुआ है। लेकिन नतीजा सार्थक नहीं दिख रहा। बाहुबली खुद अयोग्य होने पर अपने रिश्तेदारों के नाम पर पंचायत चला रहे हैं। विकास के पैसे ग्राम पंचायतों के पास जा रहे हैं। ये पैसे उम्मीद के उलट ग्राम पंचायतों को भ्रष्ट बना रहे हैं। इसका मतलब यह नहीं कि ग्राम पंचायतों को शक्तियां न दी जाए। शक्तियां देना गांधी जी के विचारों के अनुकूल है। उसे देना भी चाहिए, लेकिन उस पर नियंत्रण आवश्यक है।

डा. आइ. एन. सिन्हा, पूर्व अभियंता प्रमुख, सिंचाई विभाग, बिहार सरकार

सराहनीय प्रयास

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि भारत में आमजन की स्थिति किसी भी मानदंड से संतोषप्रद नहीं है। अब विचारणीय है कि इसके लिए कौन जिम्मेदार है? शासन व्यवस्था या उससे जुड़े लोग, या फिर दोनों। इस पर गहन चिंतन की आवश्यकता है। राष्ट्रीय कायाकल्प के प्रवेशांक में प्रकाशित लेख इस दिशा में एक सराहनीय प्रयास है। हालांकि इस अंक में प्रस्तुत विभिन्न लेखों के माध्यम से कुछ ऐसे बिंदु उठाए गए हैं जिनसे मेरी सहमति नहीं है। मेरा मानना है कि शासन व्यवस्था शाश्वत नहीं हो सकती। समय, बदलते सामाजिक परिवेश एवं तेजी से हो रहे वैज्ञानिक परिवर्तन के मद्देनजर उसमें परिवर्तन की आवश्यकता होगी ताकि जनसाधारण की आकांक्षाओं एवं अपेक्षाओं को पूरा किया सके। बहरहाल एक स्तरीय पत्रिका के प्रकाशन के लिए साधुवाद।

सत्यनारायण सिन्हा, पूर्व कुलपति, बिहार विश्वविद्यालय, , पटना

शासन व्यवस्था में आमूल परिवर्तन जरूरी

गांधी जी का कथन था कि अंग्रेजी व्यवस्था चलती रही तो देश की दुर्दशा सुनिश्चित है। अब तो शासक वर्ग बेलगाम होकर मनमाना करने पर तुले हुए हैं। सत्ता का दुरूपयोग बुरी तरह हो रहा है। प्रगति के रास्ते में जातीयता रोड़ा बनी हुई है। जनता बेबस है। ऐसे में शासन व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन समय की मांग है। शासन व्यवस्था मुख्य रूप से संविधान पर आधारित है। विगत 65 वर्षों का अनुभव बताता है कि संविधान में ही काफी संशोधन की आवश्यकता है।

सत्यदेव प्रसाद, सामाजिक कार्यकर्ता एवं वरिष्ठ नागरिक, पटना

उपनिवेशवाद की ओर बढ़ रहे हम

राष्ट्रीय कायाकल्प के माध्यम से व्यवस्था परिवर्तन का जो संकल्प आपने लिया है, वह आह्लाद का विषय है। प्रारंभण अंक में संपादक की कलम के अंतर्गत आपने लिखा है कि सांस्कृतिक आध्यात्मिकता के धनी भारतवासियों पर सात समुंदर पार से आए अंग्रेजों द्वारा बुद्धिमत्तापूर्वक भारत पर शासन किया जाना भारत में उपनिवेशवाद को जन्म दिया जाना था। ऐसा सोचने की प्रक्रिया अभी खत्म भी नहीं हुई है कि हम फिर से स्वतः उसी उपनिवेशवाद की ओर बढ़ रहे हैं।

संजय कुमार, अधिवक्ता,
पटना उच्च न्यायालय

प्रो. एस.एन.चक्रवर्ती, भूतपूर्व प्राचार्य, बिहार कॉलेज ऑफ इंजी. नियरिंग, पटना (अब एन.आई.टी) ने राष्ट्रीय कायाकल्प के माध्यम से व्यवस्था परिवर्तन का जो संकल्प लिया गया है उसकी सराहना करते हुए भारतीय लोकतंत्र पर एक विस्तृत लेख भेजा है। हम अपने अगले अंकों में यथोचित रूप से उसका उपयोग करेंगे।

संपादक

संपादक की कलम से

प्रस्तुत है ''राष्ट्रीय कायाकल्प'' के दूसरे और तीसरे अंकों का संयुक्तांक। इस त्रैमासिक पत्रिका, जिसका प्रारंभण अंक 21 सितम्बर 2013 को पटना के गांधी संग्रहालय में लोकार्पित हुआ था, के अगले अंक के प्रकाशन में दो महीने से कुछ अधिक का विलम्ब हो गया। इसके कुछ कारण तो अप्रत्याशित और अनिवार्य थे और कुछ कारण ऐसे थे जैसे एक नवजात शिशु को मातृगर्भ से एक नये पर्यावरण में सामंजस्य स्थापित करने में समय लगता है। जो भी हो, हम इस विलम्ब के लिए क्षमाप्रार्थी हैं और आशा करते हैं कि आने वाले अंक निश्चित अन्तराल पर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत होते रहेंगे।

जैसा कि प्रारंभण अंक में ही स्पष्ट किया गया था, ''राष्ट्रीय कायाकल्प'' भारतीय शासन व्यवस्था परिवर्त्तन विचार मंच का मुख पत्र है जिसका उद्देश्य है इस विचार मंच के विचारों, कार्यक्रमों और गतिविधियों को जनता के सामने उसकी जानकारी, जागरूकता, शिक्षा और प्रेरणा के लिए प्रस्तुत करना। इस विचार मंच का मूल विचार ''भारत की समस्याओं और विकृतियों की जननी है यहाँ की शासन व्यवस्था और शासन व्यवस्था परिवर्त्तन ही है इनका निदान'' स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत के उभरते स्वरूप का वैज्ञानिक विश्लेषण, युगद्रष्टा महात्मा गाँधी के विचार और विश्व परिदृश्य के अध्ययन और अनुभव पर आधारित है। यह विचार मंच भारतीय शासन व्यवस्था परिवर्त्तन अभियान, जिसका उद्देश्य है भारत में परिवर्त्तित शासन व्यवस्था स्थापित करना, का वैचारिक चरण है जिसमें विचारों का परिष्करण और अभियान के वैचारिक आधार को सम्पुष्ट करना, जनता में उनका प्रचार–प्रसार एवं जागरूकता पैदा करना और इस अभियान में अपनी भूमिका निभाने के लिए उसे अभिप्रेरित करना है। विचार मंच के इन कार्यक्रमों के आधार पर शासन व्यवस्था परिवर्त्तन अभियान का दूसरा चरण, जिसके अंतर्गत राजनीतिक कार्यकलाप किया जाना है, संचालित होगा। इस चरण में मुख्य रूप से एक ऐसे राजनीतिक दल का गठन जो शासन व्यवस्था परिवर्त्तन के लिए प्रतिबद्ध हो, शासन व्यवस्था परिवर्त्तन के लिए जागरूक और अभिप्रेरित जनता की सहभागिता से चुनावी प्रक्रिया में भाग लेना, संसदीय प्रक्रिया द्वारा संविधान में आवश्यक संशोधन करना और संशोधित संविधान के अनुसार विधायी और प्रशासनिक कार्यों द्वारा देश में परिवर्त्तित शासन व्यवस्था स्थापित करना है। महात्मा गाँधी के प्रेरणादायी नेतृत्व में संचालित स्वतंत्रता के जन संग्राम का यही लक्ष्य था। राजनैतिक स्वतंत्रता जो हमें 15 अगस्त 1947 को मिली, वह लक्ष्य प्राप्ति के लिए एक आवश्यक शर्त थी, लक्ष्य की राह में एक पड़ाव था, जिससे आगे बढ़ते हुए संविधान निर्माण में हम दिग्भ्रमित हो गए। छः दशकों से अधिक इस रास्ते पर चलते हुए हमने पाया कि हमारी समस्याएं विकराल से विकरालतर होती चली गईं। राष्ट्रीय जीवन में कई विकृतियां आ गईं जो समय के साथ और विकृत बन गईं,चाहे किसी भी दल की सरकार हो, चाहे कोई भी नेता शासन के शीर्ष पर हों, चाहे कोई भी कानून बनाए जाएं। देश को अब निश्चित रूप से समझने की नितांत आवश्यकता है कि हम गलत रास्ते पर हैं। यह शासन व्यवस्था हमारी संविधानिक आकांक्षाओं और अपेक्षाओं को फलीभूत नहीं कर सकती। देश में आए दिन होने वाले हजारों–लाखों प्रदर्शनों, रैलियों, हड़ताल, भूख हड़ताल और आंदोलनों से निकलने वाले स्वरों को ठीक से सुनें, संवेदनशीलता के साथ सुनें – ये करोड़ों शोषित, पीड़ित, प्रताड़ित और उपेक्षित जनता की करूण पुकार है शासन व्यवस्था परिवर्त्तन के लिए, इसलिए नहीं कि हमें इस दल की सरकार नहीं, उस दल की सरकार चाहिए, यह नहीं

कि संसद या विधान सभा में हमारा यह प्रतिनिधि नहीं वह प्रतिनिधि हो, यह प्रधानमंत्री नहीं, वह प्रधान मंत्री बने। महासंवेदनशील महात्मा गांधी ने मूक जनता की भी यह आवाज सुनी – उन्होंने उसे स्वर दिया, नेतृत्व दिया, राजनीतिक स्वतंत्रता के पड़ाव पर भी पहुँचाया, लक्ष्य की ओर जाने वाला रास्ता भी बताया, लेकिन देश को उस रास्ते पर ले चलने के पहले उन्हें ही रास्ते से हटा दिया गया। आज वह युगद्रष्टा हमारे बीच नहीं है, लेकिन उनका बताया हुआ रास्ता तो हमें मालूम है, आज महात्मा गाँधी जीवित नहीं हैं, लेकिन उनका जीवंत विचार तो है, आज पीड़ित और शोषित जनता की मूक कराह सुनने वाला महासंवेदनशील नायक नहीं है, लेकिन वह मूक कराह आज इतनी तीव्र चीखती पुकार बन गई है कि यदि हम पूर्णतः बहरे और संवेदनहीन नहीं हो गए है तो उसे अवश्य सुन सकते हैं। यह पुकार है शासन व्यवस्था परिवर्त्तन की। लोकनायक जयप्रकाश नाराण ने यह पुकार सुनी, उन्होंने उसे राजनीतिक स्वर दिया, ''सत्ता परिवर्त्तन नहीं, व्यवस्था परविर्त्तन'' का नारा दिया और देश की जनता ने उनके आह्वान पर उन्हें पुरजोर समर्थन दिया। दुर्भाग्य से व्यवस्था परिवर्त्तन के उस रास्ते पर देश नहीं आ सका। इस असफलता के ऐतिहासिक कारणों की समीक्षा किए बिना भी इतना तो स्पष्ट है कि जनता व्यवस्था परिवर्त्तन चाहती है। व्यवस्था परिवर्त्तन के उस प्रभावशाली जन आंदोलन की असंतोषजनक परिणति से शिक्षा लेते हुए, महात्मा गाँधी के अधूरे सपने को पूरा करने के लिए और उनके नेतृत्व में संचालित स्वतंत्रता के जनसंग्राम को लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए भारतीय शासन व्यवस्था परिवर्त्तन का यह अभियान अभिकल्पित और समर्पित है। इस अभियान के वैचारिक आधार को परिपुष्ट करने और इसका प्रचार–प्रसार करने के लिए इसके प्रथम चरण के रूप में यह विचार मंच कार्यशील है। हमारा प्रयास है कि ''राष्ट्रीय कायाकल्प'' के विभिन्न अंकों में इस अभियान के मूल विचार के विभिन्न आयामों को पाठकों के सम्मुख लाएं और इनकी विवेचना करें। इसके प्रथम अंक में अभियान और विचार मंच के वर्त्तमान सांगठनिक ढाँचा का सिंहावलोकन, भारत और भारतीयों के विभिन्न वर्गों से इस अभियान से जुड़ने के लिए आह्वान, इसकी गतिविधियों की जानकारी, इत्यादि बातों का समावेश है। भारत में लोकतंत्र है या भारत एक लोकतांत्रिक देश है, इस तरह की उक्ति या लेखन इतनी सहजता और इतने धड़ल्ले से किया जाता है, जैसे यह एक स्वयंसिद्ध तथ्य हो और इस से इतर कुछ कहना या लिखना कुछ अपराध हो, असंवैधानिक हो या ईश–निन्दा जैसी कोई बात हो। यह स्थिति देश–हित में नहीं है। यदि लोकतंत्र एक आराध्य अवधारणा है तो यह और भी आवश्यक है कि हम समय–सयम पर समीक्षा करते रहें कि यहाँ कितना लोकतंत्र है, कैसा लोकतंत्र है, आदर्श लोकतंत्र से हम कितने दूर या पास है। इसी संदर्भ में ऐसा न हो कि जैसे कम्यूनिज़्म के जन्मदाता कार्ल मार्क्स ने 1843 ई० में कहा था कि धर्म अफीम जैसा एक मादक द्रव्य है जिसे ग्रहण कर या कराकर पूँजीवाद से शोषित और पीड़ित जनता भविष्य में मोक्ष की मिथ्या आशा में अपनी वर्त्तमान दयनीय अवस्था सहन करती रहती है, उसी तरह भारत में लोकतंत्र की भ्रांति में जनता अपने शोषण और पीड़ा को अपनी नियति मानकर सहन करती रहे। ''राष्ट्रीय कायाकल्प'' के इस संयुक्तांक का केन्द्रीय विषयवस्तु है भारतीय लोकतंत्र। भारत का लोकतंत्र कितना वास्तविक, कितना भ्रामक है इसकी विवेचना की गई है, इस लोकतंत्र की सीमितता और इसकी विकृतियों पर प्रकाश डाला गया है; भारत में छद्म लोकतंत्र के उदय पर चर्चा की गई है और अतर्राष्ट्रीय राजनीति में लोकतंत्र के उपयोग और भूमिका पर थोड़ा प्रकाश डाला गया है।

''राष्ट्रीय कायाकल्प'' के विभिन्न अंकों में हम राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के ऐसे विचारकों के प्रकाशित लेख को साभार समावेश करेंगे जिनके विचार इस अभियान की विचारधारा को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संपुष्ट करते हैं। हम अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, राजनीति वैज्ञानिक ओर इस अभियान के अन्य सम्बद्ध आयामों के विचार के विचारकों और लेखकों से इस अभियान के वैचारिक आधार से सम्बद्ध ऐसे विषयों पर आलेख के लिए अनुरोध करेंगे जिनके लिए उनके विषय क्षेत्र में कुछ अध्ययन, शोध या विशिष्ट अनुभव की आवश्यकता हो। ऐसे आलेखों को समय–समय पर ''राष्ट्रीय कायाकल्प'' के यथोचित अंकों में हम प्रकाशित करेंगे। ऐसे कुछ–एक प्रकाशित लेख और आलेख इस अंक में समाविष्ट है। आशा है कि इस पत्रिका के लिए ऐसी परम्परा मूल्यवर्द्धक होगी।●

भारत में लोकतंत्र की मृग मरीचिका

राजनीति सम्बंधित बहसों और वाक्युद्धों में हर पक्ष के वक्ता भारत में लोकतत्र की बार–बार दुहाई देते हैं। जिस तरह ज्यामिति (Geometry) की तीन आधारभूत स्वयंसिद्धियों (axioms) की प्रामाणिकता इस बात से स्थापित होती है कि उनपर आधारित ज्यामिति की सारी संरचना वास्तविक दुनिया की हमारी अनुभूति के अनुरूप है या नहीं। यदि है तो स्वयंसिद्धियां वैध और तर्कसंगत है। इसी तरह भारत में लोकतंत्र की स्वयंसिद्धि इस बात से प्रमाणित होगी कि हमारे जनजीवन में, हमारे समाज में और विशेषकर हमारी सरकार में कितना लोकतत्र है। इसकी गवेषणा और विवेचना अपेक्षित है।

"भारत एक लोकतांत्रिक देश है'', ''भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है'' इस तरह की घोषणाएँ विभिन्न मंचों से विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न संदर्भों में और विभिन्न उद्देश्यों से की जाती और दुहराई जाती हैं। इतना कि भारत में लोकतंत्र है, इसको हमलोग एक स्वयंसिद्ध और अकाट्य तथ्य मान लेते हैं। राजनीति सम्बंधित बहसों और वाक्युद्धों में हर पक्ष के वक्ता भारत में लोकतत्र की बार–बार दुहाई देते हैं। जिस तरह ज्यामिति की तीन आधारभूत स्वयंसिद्धियों की प्रामाणिकता इस बात से स्थापित होती है कि उनपर आधारित ज्यामिति की सारी संरचना वास्तविक दुनिया की हमारी अनुभूति के अनुरूप है या नहीं। यदि है तो स्वयंसिद्धियां वैध और तर्कसंगत है। इसी तरह भारत में लोकतंत्र की स्वयंसिद्धि इस बात से प्रमाणित होगी कि हमारे जनजीवन में, हमारे समाज में और विशेषकर हमारी सरकार में कितना लोकतंत्र है। इसकी गवेषणा और विवेचना अपेक्षित है।

1. लोकतंत्र का अर्थ :

इस संदर्भ में सबसे पहले तो यह आवश्यक है कि लोकतत्र को परिभाषित किया जाय। लोकतंत्र है क्या? राजनीति विज्ञान में लोकतंत्र की सैद्धांतिक परिभाषा तो विभिन्न रूपों में दी गयी है लेकिन सबमें लोकतत्र को सरकार के स्वरूप से जोड़ा गया है। अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन का 19 नवम्बर 1863 को अमेरिका के पेनसिल्वेनिया राज्य के एक स्थान 'गेटीसबर्ग' में अमेरिका के गृहयुद्ध में देश की एकता और अखंडता के लिए बलिदान देने वाले सैनिकों के सम्मान में दिए गए अपने भाषण के अंत में यह विश्वास व्यक्त किया था, ''वह सरकार जो जनता की, जनता के द्वारा और जनता के लिए है, वह पृथ्वी से कभी विलुप्त नहीं होगी''। जहाँ ऐसी सरकार है, वहाँ लोकतंत्र है। लिंकन की यह अभ्युक्ति एक आदर्श लोकतंत्र की परिभाषा और परिकल्पना के रूप में सर्वमान्य रही है। व्यवहार रूप में हम कह सकते हैं कि किसी देश की वह शासन व्यवस्था जिसमें एक ओर तो उसकी सरकार के गठन में जनता की महत्वपूर्ण भूमिका हो और दूसरी ओर जन जीवन को प्रभावित करने वाले विषयों में

अंतिम निर्णय लेने में सम्बद्ध जनता की प्रभावकारी भागीदारी हो और उस निर्णय को कार्यान्वित करने वाले तंत्र पर उसका समुचित अधिकार हो, लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था कही जा सकती है। किसी देश के लोकतंत्र को इसी कसौटी पर परखा जाना चाहिए। भारत के लोकतंत्र को इस कसौटी पर परखने पर निम्नलिखित स्थिति परिलक्षित होगी।

2. संविधान में लोकतंत्र की अवधारणा :

भारत में लोकतंत्र की बात हमारे संविधान से निकलती है। 26 नवम्बर 1949 को हुई संविधान सभा में पारित संविधान की प्रस्तावना, जो संविधान की आत्मा है, में ही भारत के लोगों ने अपना संकल्प व्यक्त किया है कि ''हम भारत के लोग , भारत को एक संप्रभुत्व सम्पन्न लो. कतांत्रिक गणराज्य बनाने के लिए इस संविधान को अंग. ीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं''। अर्थ है कि संविधान के माध्यम से प्रभुत्व सम्पन्न भारतीय गणराज्य को लोकतांत्रिक बनाने का भारत के लोगों का संकल्प है। पिछले छः दशकों से ज्यादा भारतीय गणराज्य की यात्रा में भारत का जो लोकतांत्रिक स्वरूप उभरा है उस पर ध्यान देने और विचार करने की आवश्यकता है।

3. भारतीय लोकतंत्र की वास्तविक स्थिति और विकृति :

भारतीय गणराज्य में दो स्तरों पर सरकारें बनती हैं, एक केन्द्र के स्तर पर और दूसरा राज्य के स्तर पर। केन्द्र के स्तर पर जो सरकार बनती है, उसमें जनता की भागीदारी सामान्यतः पाँच वर्षों में एक बार प्रत्येक बालिग भारतीय को अपने निर्धारित निर्वाचन क्षेत्र से (देश में सम्प्रति जनसंख्या के आधार पर 543 लोकसभा निर्वाचन क्षेत्र हैं) लोकसभा में अपना प्रतिनिधि चुनने के लिए वोट देने के अधिकार तक सीमित है। इन निर्वाचित प्रतिनिधियों से लोकसभा का गठन होता है। इसी तरह राज्य स्तर पर भी विधानसभाओं का गठन किया जाता है। एक दूसरी सभा, केन्द्रीय स्तर पर राज्यसभा और कुछ राज्यों में राज्य स्तर पर विधान परिषद का गठन प्रकारांतर और अप्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा होता है। इस तरह मूलतः जनता की भागीदारी केन्द्रीय स्तर पर लोकसभा और राज्य स्तरों पर विधानसभाओं के गठन तक ही सीमित है। जनता और सरकार के बीच में जो एक और तत्त्व की महत्वपूर्ण भूमिका है, वह है राजनैतिक दल, जो सिद्धांत रूप में तो एक सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक विचारधारा के मानने वाले लोगों का समूह है , लेकिन व्यावहारिक रूप में इस विचार का उपयोग मुख्यतः वोट बैंक की राजनीति साधने में किया जाता है, उस विचारधारा के प्रति उस दल की या इसके सदस्यों की कोई विशेष प्रतिबद्धता नहीं रहती, सत्ता में बने रहने या सत्ता में आने की रणनीति में इस विचारधारा के साथ किसी भी हद तक समझौता किया जाता है। दूसरी बात, लोकतंत्र की दुहाई देने वाले इन दलों में आंतरिक लोकतंत्र सिद्धांत रूप में भी नहीं है। व्यावहारिक रूप में तो इन दलों के ''हाई कमान्ड'' या ''सुप्रीमो'' की ही निर्णायक भूमिका होती है। लोकसभा और विधानसभाओं के लिए चुनावों में ये दल प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से या चयनित निर्वाचन क्षेत्रों से अपना प्रत्याशी खड़ा करते हैं। इन प्रत्याशियों का चुनाव ये दल अपनी आंतरिक प्रक्रिया के द्वारा करते हैं जिसमें लोकतंत्र के सिद्धांतों की भूमिका नगण्य है। दलों द्वारा इन प्रत्याशियों के चुनाव में मुख्य रूप से इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि वोट बैंक की राजनीति में जीतने की उनकी संभावना और सामाजिक गणित कैसा है। धनबल, बाहुबल या किसी और आधार पर उनका उस क्षेत्र में कितना प्रभाव है या हो सकता है। उनके बायोडाटा, व्यक्तित्व और कृतित्व का आकलन इसी को ध्यान में रखकर किया जाता

सिद्धांत रूप में तो राजनैतिक दल एक सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक विचारधारा के मानने वाले लोगों का समूह है लेकिन व्यावहारिक रूप में इस विचार का उपयोग मुख्यतः वोट बैंक की राजनीति साधने में किया जाता है, उस विचारधारा के प्रति उस दल की या इसके सदस्यों की कोई विशेष प्रतिबद्धता नहीं रहती, सत्ता में बने रहने या सत्ता में आने की रणनीति में इस विचारधारा के साथ किसी भी हद तक समझौता किया जाता है। दूसरी बात, लोकतंत्र की दुहाई देने वाले इन दलों में आंतरिक लोकतंत्र सिद्धांत रूप में भी नहीं है। व्यावहारिक रूप में तो इन दलों के ''हाई कमान्ड'' या ''सुप्रीमो'' की ही निर्णायक भूमिका होती है।

भारतीय शासन व्यवस्था के अन्तर्गत इसके न्याय तंत्र में लोकतंत्र की भूमिका अत्यधिक सीमित है। सैद्धांतिक स्तर पर जिस जनता के द्वारा निर्मित संविधान और जिस जनता के प्रतिनिधियों द्वारा बनाए गए कानूनों की रक्षा के लिए हमारी शासन व्यवस्था में जो न्यायतंत्र है, उसमें जनता की भूमिका सिर्फ एक गुनाहगार या फरियादी के रूप में ही है, अन्य किसी रूप में नहीं। न्यायकर्ता के चुनाव या न्यायिक प्रक्रिया में जनता अप्रासंगिक है। देश की न्याय प्रणाली जनता से दूर और उसकी सुसाध्य पहुँच से बाहर एक ऊँचे मंच पर आसीन है। जनता को अपने न्याय तक पहुँचने के लिए काफी श्रम, समय और पैसा लगता है। वर्षों तक और पीढ़ियों तक न्याय के मकड़जाल में फँसे रहने की कहानी भारत में कम नहीं है।

है। इस तरह से एक निर्वाचन क्षेत्र से विभिन्न दलों के तथा निर्दलीय बहुत से प्रत्याशी चुनाव मैदान में रहते हैं। किसी निर्वाचन क्षेत्र के कुल मतदाताओं का कितना प्रतिशत मतदाता वोट डालते हैं, इसको ध्यान में रखते हुए अनुमानतः और औसत रूप से विजयी प्रत्याशी कुल मतदाताओं के 25 से 30 प्रतिशत मत ही प्राप्त करते हैं। 70 से 75 तक मतदाताओं ने विजयी प्रत्याशी के या तो विरूद्ध वोट दिया है या किसी को नहीं दिया है। इस तरह हमारी लोकसभा और अमूमन राज्यों की विधानसभाएं ऐसे सदस्यों से गठित होती हैं जो अपने–अपने निर्वाचन क्षेत्रों की अधिकांश जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। ऐसे ही अल्पमत प्राप्त सदस्यों द्वारा केन्द्र सरकार या राज्यों की सरकारें गठित होती हैं। सरकारों के इस गठन में सरकार का मुखिया, यथा केन्द्र में प्रधानमंत्री और राज्यों में मुख्यमंत्री, कौन होगा या सरकार के विभिन्न विभागों में जनप्रतिनिधि के रूप में मंत्री कौन होंगे, इन बातों में चुनाव परिणाम के गणित और लोकतंत्रविहीन दलों के अवसरवादी और अनैतिक गठबंधन की ही निर्णायक भूमिका है, इस प्रक्रिया में जनता नितान्त अप्रसांगिक हो जाती है। हमारे संविधान में ऐसा भी संभव है कि सरकारों के मुखिया या मंत्री ऐसे भी व्यक्ति हों जिन्हें देश के एक भी नागरिक ने नहीं चुना हो या जिन्हें चुनने का कोई अवसर भी जनता को नहीं मिला हो। इस शासन व्यवस्था में शासन के शीर्ष पर जनता की तथाकथित सरकार में ऐसे ही व्यक्ति विराजमान हैं। ऐसी ही लोकसभा या विधानसभा गाँवों, बस्तियों और शहरों में बसने वाले लोगों के जीवन और जीवन यापन से जुड़ी समस्याओं और विषयों पर कानून बनाती है। यह विचारणीय विषय है कि ऐसे कानूनों में जनता के हितों, अपेक्षाओं और आकांक्षाओं का कितना समावेश होगा। फिर, इन कानूनों की कार्यान्विति के लिए इस व्यवस्था में जो तंत्र है, उसके शीर्ष में तो विभागीय मंत्री या प्रधान/मुख्य मंत्री हैं जिसके चुनाव में, जैसा कि बताया गया है, जनता की भूमिका नगण्य है और जो साधारणतया जनता की पहुँच से दूर है। इस दूरी को कम करने के लिए जनता दरबार की परिपाटी अधिकार सम्पन्न राजा और पीड़ित एवं प्रताड़ित प्रजा की याद दिलाकर लोकतंत्र का उपहास करती है। उनके नीचे जो नौकरशाही और अफसरशाही का विशाल प्रशासकीय तंत्र है वह तो जनता के अधिकार और प्रभाव क्षेत्र से एकदम बाहर है। सिद्धांत रूप में तो इस प्रशासकीय तंत्र के पदाधिकारी लोकसेवक कहे जाते हैं, जो प्रकारांतर से जनता के पैसे से ही सम्पोषित होते हैं और जनता से ही प्रशासकीय शक्ति प्राप्त करते हैं, लेकिन इस शासन व्यवस्था में व्यवहार रूप में लोक और लोकसेवक के संबंध में उल्टी धारा है।

4. भारतीय लोकतंत्र में न्याय तंत्र :

भारतीय शासन व्यवस्था के अन्तर्गत इसके न्याय तंत्र में लोकतंत्र की भूमिका अत्यधिक सीमित है। सैद्धांतिक स्तर पर जिस जनता के द्वारा निर्मित संविधान और जिस जनता के प्रतिनिधियों द्वारा बनाए गए कानूनों की रक्षा के लिए हमारी शासन व्यवस्था में जो न्यायतंत्र है, उसमें जनता की भूमिका सिर्फ एक गुनाहगार या फरियादी के रूप में ही है, अन्य किसी रूप में नहीं। न्यायकर्ता के चुनाव या न्यायिक प्रक्रिया में जनता अप्रासंगिक है। देश की न्याय प्रणाली जनता से दूर और उसकी सुसाध्य पहुँच से बाहर एक ऊँचे मंच पर आसीन है। जनता को अपने न्याय तक पहुँचने के लिए काफी श्रम, समय और पैसा लगता है। वर्षों तक और पीढ़ियों तक न्याय के मकड़जाल में फँसे रहने की कहानी भारत में कम नहीं है। जिस न्याय के सहारे हम अपने अधिकारों और सम्मान की रक्षा और

भारत में लोकतंत्र का यह स्वरूप यहाँ की शासन व्यवस्था से निर्धारित है। यह शासन व्यवस्था सात समुन्दर पार बसे एक देश द्वारा एक संसाधन समृद्ध उपनिवेश के शोषण और यहाँ की संस्कृति–सम्पन्न जनता का नैतिक पतन सुनिश्चित करने के लिए अभिकल्पित की गई थी। वास्तविक लोकतंत्र जो हमारे संविधान की प्रस्तावना में इंगित है, ऐसी शासन व्यवस्था में संभव ही नहीं है।

जीवन को व्यवस्थित रखने की कामना करते हैं, उसी के चलते हमारा जीवन दूभर हो जाता है।

इस तरह हम देख सकते हैं कि भारत में लोकतत्र सिद्धांत रूप में कितना सीमित और व्यवहार रूप में कितना विकृत है। भारत में लोकतंत्र का यह स्वरूप यहाँ की शासन व्यवस्था से निर्धारित है। यह शासन व्यवस्था सात समुन्दर पार बसे एक देश द्वारा एक संसाधन समृद्ध उपनिवेश के शोषण और यहाँ की संस्कृति–सम्पन्न जनता का नैतिक पतन सुनिश्चित करने के लिए अभिकल्पित की गई थी। वास्तविक लोकतंत्र, जो हमारे संविधान की प्रस्तावना में इंगित है, ऐसी शासन व्यवस्था में संभव ही नहीं है। दोनों में आंतरिक और मौलिक विरोधाभास है। इसी को ध्यान में रखते हुए भारत के लोकतंत्र को संसदीय लोकतंत्र की संज्ञा दी जाती है। संसदीय लोकतंत्र में संसद (या राज्य स्तर पर विधानसभा) की अहम भूमिका होती है – कानून बनाने से लेकर सरकार बनाने तक। ब्रिटेन के संसदीय लोकतंत्र को एक आदर्श और एक मॉडल के रूप में माना जाता रहा है और ब्रिटिश संसद को ''सब संसदों की जननी'' कहा जाता है। 1908 में लिखित अपनी पुस्तक ''हिंद स्वराज'' में ब्रिटिश संसद के कार्यकलापों की समीक्षा करते हुए महात्मा गाँधी ने इसकी तीव्र भर्त्सना की थी। कहा था कि यह सत्ताधारी दल और इसके नेताओं की अनुगामिनी के रूप में कार्य करती है और इसका कोई अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं है। इसके सदस्य अपने दलों के आदेश पर संसद में बहस और वोटिंग करते है। ऐसी संस्था से देश को रचनात्मक दिशा निर्देशन की कोई आशा नहीं की जा सकती। स्पष्टतः वे स्वतंत्र भारत में ऐसी शासन व्यवस्था, जिसमें ब्रिटिश संसद के ही सदृश भारतीय संसद की संरचना हो, के विरूद्ध थे।

5. ग्राम स्तर पर लोकतत्र की वास्तविकता :

इस तथाकथित लोकतंत्र में, एक ओर तो शासन के शीर्ष पर जहाँ जन जीवन को प्रभावित करने वाले कानून बनते हैं, नियमों का निर्धारण होता है और अंतिम रूप से निर्णय लिए जाते हैं, वहाँ जनता की भागीदारी तो दूर, जनता का प्रतिनिधित्व भी अत्यन्त सीमित और विकृत है। दूसरी ओर, जहाँ शासन और इसके क्रियाकलाप लोगों के जीवन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं और उनके जीवन को खुशहाल या बदहाल बनाते हैं, वहाँ जनता की भागीदारी कितनी और कैसी है, इस कसौटी पर भी हमारे लोकतंत्र को परखा जाना चाहिए। भारत की अधिकांश जनता गाँवों में रहती है। यह देखें कि इनके जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्त्ति और उनकी समस्याओं के निराकरण में उनकी कितनी भागीदारी है। उदाहरण के लिए उनकी तीन आवश्यकताओं को लें (1) बच्चों की स्कूली शिक्षा, (2) पीने के पानी की आपूर्त्ति और (3) विधि–व्यवस्था। इन तीनों क्षेत्रों में अंतिम उत्तरदायित्व राज्य सरकार की है। यदि ग्रामवासी जानते हैं कि उनके बच्चों की शिक्षा नियमित रूप से या गुणवत्ता पूर्वक नहीं हो रही है, उनके पीने के पानी की आपूर्त्ति आवश्यक मात्रा, अपेक्षित गुणवत्ता के साथ और समयानुसार नहीं हो रही है या गाँव की विधि–व्यवस्था ठीक नहीं रहने के कारण उनका जीवन कुप्रभावित रहता है, तो वे इनके लिए गुहार तो कई स्तरों पर, गाँव से लेकर राज्य की राजधानी तक, लगा सकते हैं और इस प्रक्रिया में अपना जीवन दूभर कर सकते हैं, लेकिन अंतिम रूप से उनकी समस्याओं का समाधान राज्य सरकार ही कर सकती है। वर्त्तमान शासन व्यवस्था और संसदीय लोकतंत्र में वे राज्य सरकार तक विधान सभा के अपने निर्वाचित प्रतिनिधि के माध्यम से ही पहुँच सकते हैं। चुनाव के बाद जनता का अपने प्रतिनिधि के यहाँ पहुँचना और अपनी समस्याओं से अवगत कराना एक दुष्कर कार्य है। यदि पहुँच हो भी गयी और वह प्रतिनिधि सचमुच उन समस्याओं के निराकरण के लिए प्रयास करना चाहता है तो आधिकारिक रूप से वह विधान सभा के सत्र में उन समस्याओं को सरकार के सामने ला

सकता है। यदि सरकार उन समस्याओं के निराकरण के लिए सचमुच आवश्यक कार्रवाई करना चाहती है तो वह उस सम्बंध में राज्य स्तर पर आवश्यक आदेश दे सकती है। गाँव के स्तर पर उस आदेश की कार्यान्विति किस रूप में होती है और कितना समय लग जाता है यह उन समस्याओं से ग्रसित या त्रस्त जनता के अधिकार में नहीं है। सब मिलाकर यही कहा जा सकता है कि गाँवों की जनता की वैसी समस्याओं के निराकरण में भी, जो उनके जीवन को प्रत्यक्ष रूप से दिन प्रतिदिन कुप्रभावित करती हैं, इस शासन व्यवस्था में जनता का जितना अधिकार है वह दीया की लौ से खिचड़ी पकाने जैसा है। उन समस्याओं के निराकरण के अन्य तरीके, जैसे पहुँच या पैसे का उपयोग करना, रैली करना, रोड जाम या चक्का जाम करना, जनजीवन को प्रभावित कर सरकार का ध्यान आकर्षण करना, अखबारों में उन्हें उजागर करवाना, किसी सरकारी मंत्री के आने पर उग्र रूप से प्रदर्शन करना, जनता दरबार में जाना, इत्यादि कष्ट साध्य और दुष्कर कार्य हैं, इससे शांति और व्यवस्था भंग होती है, लेकिन जनता हताशा में इन्हें अख्तियार करने के लिए मजबूर हो जाती है। और विडम्बना तो यह है कि इन समस्याओं के वास्तविक निराकरण में जो धन और मानव संसाधन लगता है उनके लिए प्रकारांतर से पीड़ित जनता ने अपनी कमाई या शोषण के माध्यम से पैसा दे दिया है।

5.1. पंचायती राज क्या है :

इन समस्याओं के निराकरण में जनता की भागीदारी सुनिश्चित करने के उद्देश्य से आजादी के 45 वर्षों बाद संविधान में आवश्यक संशोधन कर संसद में पंचायती राज कानून पारित किया गया जिसका कार्यान्वयन राज्य सरकारों को करना है। इस त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था के अन्तर्गत ग्राम स्तर पर राज्य सरकार के विभिन्न विभागों द्वारा किए जाने वाले कार्यों के कार्यान्वयन का उत्तरदायित्व ग्राम पंचायतों को सौंपा गया है। इसके लिए पंचायतों को आवश्यक वित्तीय और प्रशासनिक स्वायत्तता नहीं होने और सरकारी तंत्र पर बहुत–कुछ निर्भर रहने के चलते कार्यान्वयन प्रभावी ढंग से नहीं हो पाता। बहुत अर्थों में ग्राम पंचायत राज्य सरकार का ग्राम स्तर तक विस्तारित अंग के रूप में कार्य करता है जिसके अधिकारी राज्य सरकार से नियुक्त न होकर उस गाँव की जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं। फलतः यह विस्तारित अंग भी वर्त्तमान शासन व्यवस्था की भ्रष्टाचार जैसी विकृतियों से अछूता नही रहता है और रह भी नहीं सकता।

5.2 गाँवों के लिए अधिकारिता कानून :

ग्रामीणों की पूर्वोक्त समस्याओं से निस्तार पाने के लिए हाल के वर्षों में इस संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ कानूनी युक्तियां अपनायी गई हैं। ये हैं विभिन्न अधिकारिता कानून जो इस व्यवस्था की विसंगतियों और विडम्बनाओं को दर्शाती हैं।

5.2.1. सूचना का अधिकार :

शासन व्यवस्था को पारदर्शी और जनसुलभ बनाने के स्थान पर जनता को सूचना का अधिकार प्रदान किया गया है जिसके तहत जनता को परत–दर–परत अफसरशाही के माध्यम से वह सूचना प्राप्त करने का अधिकार है जो एक पारदर्शी और जनसुलभ शासन व्यवस्था में स्वतः उपलब्ध होता है। यह सूचना नहीं मिलने या संतोषप्रद रूप से नहीं मिलने की दशा में उसे जो कानूनी मशक्कत करनी पड़ेगी, वह इस अधिकार के उपयोग को निषेधात्मक रूप से प्रभावित करती है। फिर, इस कानून के कार्यान्वयन में जो अफसरशाही का विस्तार अपेक्षित है, उससे हमारा शासनतंत्र और बोझिल तथा खर्चीला बन जाता है।

5.2.2. रोजगार गारंटी योजना :

इसी तरह, भारत सरकार की रोजगार गारंटी योजना हमारी व्यवस्था की विकृति को उजागर करता है। यदि हमारा विकास व्यक्ति–केन्द्रित और जनोन्मुखी होगा तो विकास की धारा गाँवों में प्रस्फुटित होगी, रोजगार के अधिकांश अवसर गाँवों में सृजित होंगे और गाँव के लोगों को रोजी रोटी के लिए बाहर जाना नहीं पड़ेगा। अंग्रेजों के समय से ही चली आ रही वर्त्तमान व्यवस्था में गाँवों की अर्थव्यवस्था चौपट कर दी गयी है। इस दुःस्थिति को सुधारने या बदलने के बजाय यह रोजगार गारंटी योजना गाँव के लोगों को जीवन–निर्वाह दर पर सरकारी मजदूर

कहा जा सकता है कि गाँवों की जनता की वैसी समस्याओं के निराकरण में भी, जो उनके जीवन को प्रत्यक्ष रूप से दिन प्रतिदिन कुप्रभावित करती हैं, इस शासन व्यवस्था में जनता का जितना अधिकार है वह दीया की लौ से खिचड़ी पकाने जैसा है।

बना देती है। इसमें भ्रष्टाचार जैसी इस शासन व्यवस्था की अंतर्निहित विकृतियां तो इस योजना में भी बदस्तूर कायम है।

इस रोजगार गारंटी योजना के नामकरण में महात्मा गाँधी का नाम घसीटना वोट बैंक की राजनीति में भले ही एक चतुर युक्ति हो लेकिन यह उस महान व्यक्ति के मौलिक विचार का क्रूर उपहास है। जो व्यक्ति स्वतंत्र भारत में 'ग्राम गणराज्य' का सपना देखता था, उस व्यक्ति के नाम पर एक ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत एक ऐसी योजना चलाना जिसमें गाँवों की अर्थव्यवस्था ध्वस्त हो और जनता का पैसा गाँव से चलकर दिल्ली पहुँचता है और वहाँ से उस गाँव में रोजगार सृजन के नाम पर उस पैसे का कुछ अंश, जो पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गाँधी के अनुसार ही है, रोजगारविहीन गाँव में लोगों को निर्धारित दर पर मजदूर बनाता है, उस व्यक्ति की आत्मा के लिए अवश्य पीड़ादायी होगा।

5.2.3. शिक्षा का अधिकार :

फिर, सर्व शिक्षा अभियान के तहत स्कूली बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार दिया गया है। क्या है यह अधिकार? साधनविहीन विद्यालयों में निम्न कोटि की गुणवत्ता वाली शिक्षा का अधिकार? इस अधिकार के साथ–साथ समाज में लाभ के उद्देश्य से संचालित निजी विद्यालयों की बाढ़ आ गई है। इस तरह समाज में दो कोटि के भावी नागरिकों की बुनियाद स्कूली शिक्षा से ही डाली जा रही है। एक शिक्षा के अधिकार के आधार पर गुणवत्ताविहीन शिक्षा प्राप्त बालक–बालिकाओं का और दूसरा सम्पन्न परिवारों के साधन–सम्पन्न निजी विद्यालयों में शिक्षित बालक–बालिकाओं का। इसी बुनियादी भिन्नता पर आगे बढ़ते हुए भारत में विभिन्न कोटियों के नागरिको का आविर्भाव हो रहा है। ऐसा इसलिए कि विद्यालयी शिक्षा में जनता का कोई अधिकार या प्रभावी भागीदारी नहीं है। कानून द्वारा प्रदत्त तथाकथित शिक्षा का अधिकर जनता के इस अधिकार का पर्याय नहीं है।

5.2.4. आहार का अधिकार :

हाल ही में भारत के लोगों को कानून के माध्यम से एक और अधिकार दिया गया है – वह है आहार का अधिकार जिसके अधिकांश लाभार्थी गाँव के लोग है। इस कानून की विडम्बना पर गौर कीजिए। गाँव के जो लोग पूरे देश के लिए अन्न उपजाते हैं, उनके खाने के लिए निर्धारित मात्रा में सस्ते दर पर अन्न सरकारी गोदामों से निकल. कर उनके पास इस कानून के कंधे पर चढ़कर आएगा। अन्न की इस यात्रा में बहुत से सरकारी कर्मचारी, व्यापारी वर्ग के लोग, परिवहनकर्मी और इन में अन्तर्भूत भ्रष्टाचार जैसी शासन व्यवस्था की विकृतियां सन्निहित और संलग्न है। और प्रकारांतर से इन सबकी कीमत अंततः उसे ही चुकानी पड़ती है जिसको ढोल–बाजे के साथ सस्ते दर पर अन्न मुहैया कराया जाता है। क्या ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती जिसमें किसानों द्वारा उपजाया अन्न उनके खेत से चलकर खलिहान होते हुए उनके घर आता और जरूरत से अधिक अन्न जरूरत मंद पड़ोसियों या अन्य लोगों के पास जाता? अवश्य हो सकता है, लेकिन इस शोषण आधारित शासन व्यवस्था में नहीं।

यह शोध का विषय हो सकता है कि इन कानून आधारित अधिकारों से जनता कितना और किस रूप में अधिकार सम्पन्न हुई है और उस अधिकार के बल पर कितना और किस रूप में उसे वह चीज उपलब्ध हुई है जिसका अधिकार उसे मिला है। यदि इन कानूनों को बनाने वाले ऐसा सोचते हैं कि कानून के द्वारा अधिकार देने मात्र से वह चीज जनता को स्वतः उपलब्ध हो जाती है, तो क्यों नहीं कानून बनाकर जनता को सम्पन्नता का अधिकार दे दिया जाय जिससे जनता विपन्नता से त्राण पाकर सम्पन्नता का सुख भोगे। खैर, कुछ बातें तो स्पष्ट हैं। इन अधिकर आधारित कानूनों के कार्यान्वयन के लिए व्यूरोक्रेसी में इजाफा हुआ और भ्रष्टाचार बढ़ा है। और इन सबका बोझ जनता पर ही पड़ता है। दूसरा, इन अधिकार आधारित कानूनों का परचम लहराकर वोट बैंक की राजनीति बखूबी साधी जा सकती है।

इस तरह हम देख सकते हैं हमारे लोकतंत्र में कितनी विकृतियां हैं – कानून बनाने से लेकर कानून के कार्यान्वयन तक। अतः यदि भारत में सही अर्थों में लोकतंत्र लाना है, तो वर्तमान के सीमित और विकृत लोकतंत्र को हटाना होगा। इसके लिए वास्तविक लोकतंत्र के अनुरूप और उस पर आधारित शासन व्यवस्था को स्थापित करना होगा। ●

भारत में छद्म लोकतंत्र का उभरता स्वरूप

जिस तरह एक प्रतिष्ठित ब्रॉंड के उत्पाद की बहुत सी नकलें बाजार में निकल पड़ती हैं और उसका आभास या अनुभूति तब होती है जब हम उन नकली उत्पादों का उपयोग करते हैं, किसी बहुरूपिया की असलियत उसकी कृतियों से उजागर होती है, उसी तरह हमारे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के कई क्षेत्रों में लोकतंत्र का सीमित, विकृत और छद्म स्वरूप अपनाया जाता है जिससे हम, हमारा समाज, और हमारा राष्ट्र जाने अनजाने कुप्रभावित होता है। आइए, हम इन पर जरा गौर फरमाएं।

लोकतंत्र जनजीवन की एक सर्वमान्य और सुप्रतिष्ठित अवधारणा है। सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न आयामों में हम इसी अवधारणा पर आधारित कार्यप्रणाली और निर्णय की प्रक्रिया अपनाने का प्रयास करते हैं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति में लोकतंत्र की अवधारणा नई नहीं है। सदियों से हमारे सामाजिक जीवन में ''पंच परमेश्वर'' की परम्परा लोकतंत्र की अवधारणा पर ही आधारित थी। लेकिन जिस तरह एक प्रतिष्ठित ब्रॉंड के उत्पाद की बहुत सी नकलें बाजार में निकल पड़ती हैं और उसका आभास या अनुभूति तब होती है जब हम उन नकली उत्पादों का उपयोग करते हैं, किसी बहुरूपिया की असलियत उसकी कृतियों से उजागर होती हैं, उसी तरह हमारे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के कई क्षेत्रों में लोकतंत्र का सीमित, विकृत और छद्म स्वरूप अपनाया जाता है जिससे हम, हमारा समाज, और हमारा राष्ट्र जाने अनजाने कुप्रभावित होता है। आइए, हम इन पर जरा गौर फरमाएं।

इस संदर्भ में सबसे पहले तो हम उल्लेख करना चाहेंगें हमारी शासन व्यवस्था का जो हमारे राष्ट्रीय जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित करता है। भारत की शासन व्यवस्था में लोकतंत्र का जो स्वरूप अपनाया गया है, जिसे संसदीय लोकतंत्र की संज्ञा दी जाती है, उसकी सीमितता और विकृतियों के विषय में इस पत्रिका के इसी अंक में ''भारत में लोकतत्र की मृगमरीचिका'' शीर्षक आलेख में कुछ विस्तार से समीक्षा की गई है।

बहुत सी व्यापक सामाजिक समस्याएं और विकृतियां किसी घटना विशेष से उद्वेलित जन समूह के आंदोलनों ओर प्रदर्शनों से मीडिया के सहारे सुर्खियों में आ जाती हैं। ऐसे आंदोलनों और प्रदर्शनों में दोषियों के प्रति प्रतिशोध और आक्रोश से प्रेरित उन्हें कड़ी से कड़ी सजा देने की माँग होती हैं। यदि यह घटना और उससे उपजा आंदोलन और प्रदर्शन देश की राजधानी में होता है, तो मीडिया उसे देशव्यापी आंदोलन का रंग दे देता है। और उन माँगों को जनता की माँगों के रूप में प्रचारित किया जाता है। वोट बैंक की राजनीति से प्रेरित और संचालित इस शासन व्यवस्था में सरकार उन मांगों को मानने के लिए झुक जाती है, यदि वर्त्तमान कानून उसके आड़े आता है तो कानून बदलती है। 2012 के दिसम्बर में दिल्ली में घटा एक जघन्य बलात्कार कांड इसका ज्वलंत उदाहरण है। इससे प्रेरित तथाकथित जनआंदोलन और तथाकथित लोकतंत्रीय सरकार की प्रतिक्रिया को छद्म

छद्म लोकतंत्र में सभी संगठन दिल्ली में ही आंदोलन और प्रदर्शन आयोजित करना चाहते हैं क्योंकि मीडिया के सहारे बिना किसी श्रम के, बिना अपने संगठन का देशव्यापी विस्तार किए उन्हें इसे देशव्यापी आंदोलन के रूप में पेश करने का या भ्रम में रहने का अवसर मिल जाता है।

लोकतंत्र कहा जा सकता है जिससे कई विडम्बनाएं उजागर होती हैं। पहली बात तो यह है कि वर्षों से भारत के गाँवों और छोटे बड़े शहरों में बलात्कार और नृशंसता के साथ बलात्कार की अनगिनत घटनाएं होती रही हैं, जिनमें ज्यादातर पीड़िताएं समाज के निचले तबकों से आती हैं, क्यों नहीं उनसे देश का विवेक उद्वेलित हुआ और क्यों नहीं हमारी तथाकथित लोकतांत्रिक सरकार क्रियाशील हुई? दूसरा प्रश्न है, दिल्ली की घटना से क्रियाशील हुई सरकार ने जो किया उससे दिल्ली का आंदोलन और प्रदर्शन तो शांत हुआ, लेकिन क्या इससे बलात्कार की समस्या का सार्थक और स्थायी समाधान हुआ? उस घटना और उससे प्रेरित कानून बनने के बाद भी नृशंस और निंदनीय बलात्कार की घटनाएं देश में घटित हो ही रही हैं। कारण है कि सिर्फ कानून, कितना भी कठोर क्यों न हो, बनाने से ऐसी समस्याओं का निराकरण नहीं हो सकता। समाज में बलात्कार की विकृति के कई आयाम हैं, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और शासनिक – प्रशासनिक और ये आयाम परस्पर प्रभावकारी हैं। इनका समाधान छद्म लोकतंत्र में संभव नहीं है।

छद्म लोकतंत्र का दूसरा प्रमुख उदाहरण है भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन जो अन्ना हजारे के नेतृत्व में 2011 में दिल्ली में आयोजित हुआ था। बहुत दिनों तक चलने वाले इस आंदोलन में एक ही मुद्दा था संसद द्वारा जनलोकपाल बिल पारित करवाना क्योंकि अन्ना एवं उनके सहयोगियों का मानना था कि यह कानून भ्रष्टाचार के उन्मूलन में बहुत कारगर होगा। मुख्यतः दिल्ली के युवाओं ने इसमें बढ़–चढ़ कर भाग लिया और अपने पाठकों और दर्शकों की रूचि देख मीडिया (समाचार पत्र और दूरदर्शन) ने अपने व्यावसायिक हितों को ध्यान में रखते हुए इस आंदोलन को काफी उछाला और इसे एक देशव्यापी संघर्ष के रूप में पेश किया, जब कि स्थिति यह थी कि गाँवों और कस्बों में रहने वाली गरीबी, बीमारी और जीवन–यापन की अन्य समस्याओं से जूझती हुई विशाल जनता की रूचि भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन में एक पाठक और दर्शक की भूमिका में ही सीमित थी। इस छद्म लोकतंत्र में सभी संगठन दिल्ली में ही आंदोलन और प्रदर्शन आयोजित करना चाहते हैं क्योंकि मीडिया के सहारे बिना किसी श्रम के, बिना अपने संगठन का देशव्यापी विस्तार किए उन्हें इसे देशव्यापी आंदोलन के रूप में पेश करने का या भ्रम में रहने का अवसर मिल जाता है। अन्ना ने जब अपने आंदोलन और प्रदर्शन को दिल्ली से हटाकर मुम्बई में, जो स्वयं भी एक महानगर है, स्थानांतरित किया तो इसमें भागीदारी भी कम रही और मीडिया का ध्यान भी उतना नहीं रहा। किसी भी मुद्दे के प्रति गाँवों, कस्बों और शहरों में रहने वाली देश की विशाल जनता को जागरूक, शिक्षित और अभिप्रेरित करने के बजाय इस छद्म लोकतंत्र में दिल्ली में धरना, हड़ताल और प्रदर्शन करने का आसान रास्ता अपना लिया जाता है। समझते हैं कि दिल्ली भारत है। सच तो यह है कि दिल्ली भारत से काफी दूर हो गया है। भारत बहुत पीछे छूट गया है। दिल्ली या तो देश की राजनीति या व्यापार पर हावी होने का मुकाम बन गया है या एक तरह से भारत की गरीबी, बेरोजगारी और बदहाली भूलने की या उनसे त्राण पाने की मंजिल बन गई है। आज किसी महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति या दल की राजनीतिक यात्रा शरू होती है दिल्ली के संभ्रांत इलाके से। पहले उच्चस्तरीय राजनीति शुरू होती थी चंपारण (बिहार) और खेडा (गुजरात) जैसे गाँवों और कस्बों से। फल यह होता है कि भ्रष्टाचार जैसे गंभीर मुद्दा, जिसके कई आयाम है, व्यक्ति केन्द्रित हो जाता है, हमारा ध्यान सिर्फ भ्रष्टाचार में लिप्त लोगों के प्रति आक्रोश के रूप में उद्वेलित होता है और हम माँग करते हैं कि इसके लिए कठोर कानून बने। कानून बन भी जाए तो क्या होगा? भ्रष्टाचार की समस्या का रूप बदल जाएगा, भ्रष्टाचार बदस्तूर कायम रहेगा।

सूचना और संचार तकनीकी में क्रांतिकारी परिवर्त्तन तथा कम्पयूटर, इंटरनेट और अन्य उपकरणों की सहज उपलब्धता के फलस्वरूप आज के समय में छद्म लोकतंत्र का एक और स्वरूप उभरा है। इसी क्रम में फेसबुक, ट्वीटर आदि इंटरनेट आधारित कुछ माध्यम, जिनका मध्यम या उच्च वर्ग के लोग, विशेषतया युवा वर्ग, ज्यादा प्रयोग करते हैं, समाचारों और विचारों के प्रचार–प्रसार में अहम भूमिका निभाने लगे हैं। जिस तेजी से विचारों का प्रचार–प्रसार संभव हो गया है, उस तेजी से विचारों की परिपक्वता नहीं हो पाती। फलस्वरूप अधकचरे और उद्वेलक विचारों का प्रचार–प्रसार अपेक्षाकृत आसान और सुलभ हो गया है। ऐसे विचारों से कुछ छद्म क्रांति भी हुई है जिसकी उपलब्धि टिकाऊ और आशानुरूप नहीं हुई।

देश बीमार है, भ्रष्टाचार तो उस बीमारी से जनित एक लक्षण है। लक्षण का इलाज करने से बीमारी नहीं खत्म होगी। भ्रष्टाचार तो हमारी शासन व्यवस्था में है, उससे उपजी राजनीति में है। इनको बदले बिना भ्रष्टाचार कभी भी उन्मूलित नहीं होगा। यही खतरा है छद्म लोकतंत्र का। मौलिक बीमारी के तरफ ध्यान न देकर उससे ग्रस्त लोगों पर अपना ध्यान और आक्रोश केन्द्रित करना।

सूचना और संचार तकनीकी में क्रांतिकारी परिवर्त्तन तथा कम्पयूटर, इंटरनेट और अन्य उपकरणों की सहज उपलब्धता के फलस्वरूप आज के समय में छद्म लोकतंत्र का एक और स्वरूप उभरा है। इसी क्रम में फेसबुक, ट्वीटर आदि इंटरनेट आधारित कुछ माध्यम, जिनका मध्यम या उच्च वर्ग के लोग, विशेषतया युवा वर्ग, ज्यादा प्रयोग करते हैं, समाचारों और विचारों के प्रचार–प्रसार में अहम भूमिका निभाने लगे हैं। जिस तेजी से विचारों का प्रचार–प्रसार संभव हो गया है, उस तेजी से विचारों की परिपक्वता नहीं हो पाती। फलस्वरूप अधकचरे और उद्वेलक विचारों का प्रचार–प्रसार अपेक्षाकृत आसान और सुलभ हो गया है। ऐसे विचारों से कुछ छद्म क्रांति भी हुई है जिसकी उपलब्धि टिकाऊ और आशानुरूप नहीं हुई। मिस्र में हाल के वर्षों में जो हुआ यह इसका एक रोचक और शिक्षाप्रद उदाहरण है। मिस्र की राजधानी काहिरा के एक सभा स्थल 'तहरीर स्क्वायर' में इंटरनेट और सोशल मीडिया का उपयोग कर लंबे समय से जमे हुए तत्कालीन अधिनायक होस्नी मुबारक को हटाने और मिस्र में लोकतंत्र स्थापित करने की मांग को लेकर लोगों, विशेषकर युवाओं, का एक जमावड़ा जुटा और एक महीने के अंदर उनकी पहली मांग को पूरा करते हुए मुबारक गद्दी छोड़ बाहर भाग खड़े हुए। जहाँ तक दूसरी माँग का प्रश्न है, बहुत अंतराल के बाद मिस्र में पहला संसदीय चुनाव हुआ और इसके आधार पर एक इस्लाम पंथी दल विजयी हुआ जिसके नेता मुहम्मद मोर्सी मिस्र के राष्ट्रपति हुए। लेकिन कुछ समय बाद ही सेना के सहयोग से मिस्र की पंथनिरपेक्ष शक्तियों ने मोहम्मद मोर्सी को अलोकतांत्रिक तरीके से अपदस्थ कर दिया। अब स्थिति यह है कि मिस्र में सम्प्रति सैन्य शासन है और लगता है कि मिस्र अब लोकतंत्र से अनिश्चितकाल के लिए दूर हो गया है। यह है छद्म लोकतंत्र की परिणति। छद्म लोकतंत्र के इस स्वरूप को ''डीजिटल डेमोक्रेसी'' भी कहा जाने लगा है। भारत में भी इसका प्रयोग होने लगा है। भारत के नए और पुराने राजनीतिक दल राजनीति में इसका भी खुलकर प्रयोग करने लगे हैं।

पहले की राजनीति में भारत के राजनेताओं की लोक छवि और लोगों के दिल में उनका स्थान उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व से बनता–बिगड़ता था। आज इसको करने के लिए मीडिया का योजनाबद्ध तरीके से और काफी खर्च करके भरपूर प्रयोग किया जाने लगा है। किसी के और किसी दल के पक्ष या विपक्ष में मीडिया द्वारा कृत्रिम लहर पैदा की जाती है। किसी मुद्दे पर, चाहे वह कितना भी गंभीर और बहुआयामी क्यों न हो, या किसी राजनीतिक सभा, रैली, प्रदर्शन, आदि में प्रायोजित भीड़ जुटा कर या उस भीड़ में कुछेक उद्वेलित लोगों की आवेशपूर्ण बातों को प्रचारित कर जनता की आवाज या मांग या भावना के रूप में प्रचारित करना मीडिया की एक मानक प्रक्रिया हो गई है। छद्म लोकतंत्र के इस कोलाहल में भारत की विशाल जनता की पीड़ा और तद्जनित कराह दब सी गई हैं। छद्म लोकतंत्र वास्तविक लोकतंत्र के रास्ते में बहुत बड़ा अवरोध है। हमें इसे समझना और इससे सचेत रहना चाहिए। ●

आज के युग में 'हिंद स्वराज' क्यों!

राजीव वोरा

जब गांधी जी 'हिंद स्वराज' के मार्ग पर चले तब कायर हो चुके, हारे हुए और मृतप्राय भारत ने वह कर दिखाया, जो मानव इतिहास में कभी नहीं हुआ। भारतीयों के मन में स्वराज की लौ जगायी और तब क्या हुआ वह इतिहास हम सब जानते हैं। अगर हमें फिर से उठना है और अपनी असलियत, अपनी अस्मिता को प्राप्त करना है, तो 'हिंद स्वराज' को हमें फिर से समझने की जरूरत है।

'हिंद स्वराज' गांधी जी का वह बीज ग्रंथ है, जो उन्होंने 1909 में यह स्पष्ट करने के लिए लिखा कि मनुष्य की स्वाधीनता का सही अर्थ क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जाना चाहिए। हिंद स्वराज के 90 पन्नों में अपना और भारत का जीवन दर्शन रखते हुए उसकी अंतिम पंक्तियों में गांधी ने लिखा–'मुझे लगता है कि हमने स्वराज का नाम तो लिया, लेकिन उसका स्वरूप हम नहीं समझे हैं। मैंने उसे जैसा समझा वैसा यहां बताने की कोशिश की है। मेरा मन गवाही देता है कि ऐसा स्वराज्य पाने के लिए मेरा यह शरीर समर्पित है। जब गांधी जी 'हिंद स्वराज' के मार्ग पर चले तब कायर हो चुके, हारे हुए और मृत प्रायः भारत ने वह कर दिखाया, जो मानव इतिहास में कभी नहीं हुआ। भारतीयों के मन में स्वराज की लौ जगायी और तब क्या हुआ वह इतिहास हम सब जानते हैं। अगर हमें फिर से उठना है और अपनी असलियत, अपनी अस्मिता को प्राप्त करना है, तो 'हिंद स्वराज' को हमें फिर से समझने की जरूरत है।

आज देश के चार आधारभूत तंत्र अर्थात राज्यतंत्र, अर्थतंत्र, समाजतंत्र और धर्मतंत्र की क्या स्थिति है? ये चारों के चार जब प्रजा के जीवन को सरल और सुखमय बनाने के बजाय उसे कठिन और कष्टमय बनाने लगे; समस्याओं का समाधान करने के बदले उन्हें उलझाने लगे; देश की प्राकृतिक संपदा तथा प्रजा के साधन, श्रम और कौशल का मूल्य बढ़ाने के बदले दिन–ब–दिन घटाने ही लगें और विदेशी साधन–शक्ति का मूल्य घटाने के बदले उसे बढ़ाने लगे; धार्मिक, पांथिक, सांप्रदायिक, नस्लीय, जातीय, प्रादेशिक, भाषाई, मतवादी और वैचारिक भिन्नता में अभिन्नता के स्थान पर भेदभाव पैदा करने लगे;जिनकी रक्षा करने का दायित्व सर्वोपरि है उन्हीं शोषित , अशक्त गरीब और मूक को ही अपना भक्ष्य बनाने लगे; गरीब से भी गरीब व्यक्ति को भी अपना लगे ऐसा राज्यतंत्र और अर्थतंत्र के स्थान पर जो केवल सबलों को ही अपना लगे ऐसे राज्यतंत्र और अर्थतंत्र की सेवा को ही राष्ट्र सेवा कहा जाने लगे; स्वाधीनता और आत्मनिर्भरता के स्थान पर पराधीनता तथा परनिर्भरता बढ़ानेवालों का मान–सम्मान–स्वागत होने लगे; अंधेरे से प्रकाश की ओर जाने के बदले प्रकाश से अंधकार और घोर अंधकार की तरफ देश को धकेले जाने को जोर–जबरदस्ती से प्रगति बताया जाने लगे; अंगरेजी पढ़े–लिखों ने और समर्थों ने शोषण के लिए स्वदेश और भक्ति के लिए विदेश उठा लिया हो; तथा इस स्थिति को भुगतती प्रजा जब स्पष्ट रास्ता न दिखने पर झुंझलाने लगे, आपस में ही लड़ने और बिखरने लगे; आत्मनाश के

'हिंद स्वराज' आज के युग में नैतिक और न्यायपूर्ण जीवन–दृष्टि का बीजग्रंथ है। वह हमें स्वाधीनता का सच्चा अर्थ सिखाता है और उसे पाने का मार्ग बताता है।

आर्थिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक तंत्र में अपनी शिरकत को ही देश की प्रगति या परिवर्तन समझने और बताने लगे; राष्ट्रीय भावना मंद पड़ने लगे और स्वदेशी की तुलना में विदेशी का प्रेम बढ़ने लगे; तब, दिशा खोजने के लिए फिर से मूलभूत सिद्धांतों और दृष्टि को उठाना ही एकमात्र रास्ता बच जाता है, जो हमें एक समग्र जीवन–दृष्टि दे, ताकि सभ्यता के सच्चे दर्शन के आधार पर अपने दायित्व के सूत्र हाथ लग सकें और विनाश से बचाव का मार्ग दिखे। मूलभूत सिद्धांत और दृष्टि का अर्थ है जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नैतिक–अनैतिक की विवेक दृष्टि, जिससे व्यक्ति अपना नैतिक कर्तव्य अदा कर सके। गांधी जी ने 'हिंद स्वराज' में इसे ही सभ्यता कहा है और जो इसमें परिवर्तन करते हैं, उनकी गांधीजी ने कड़े शब्दों में आलोचना की है।

किसी भी प्रजा में उनकी सभ्यता अर्थात नैतिक–बोध और नैतिक–व्यवहार की प्रेरणा देने वाले महापुरुष समय–समय पर पैदा होते हैं। आज हमारे पास राष्ट्र–सम्मत कोई ऐसा महापुरुष नहीं है । तब कुछ संस्थाएं होती हैं– सामाजिक, सांस्कृतिक, जातीय या धार्मिक तंत्र–जो प्रजा को प्रेरित कर सकें, संघर्षों के लिए संगठित करें और मार्गदर्शन करें। आज हमारे पास ऐसी संस्था भी नहीं हैं। न महापुरुष अर्थात नेता या नायक, न प्रजा का अपना कोई संघ–संगठन, तब , जो एकमात्र आधार ऊपर उठने के लिए रह जाता है, वह है विचार या जीवन दृष्टि। 'हिंद स्वराज' आज के युग में नैतिक और न्यायपूर्ण जीवन–दृष्टि का बीजग्रंथ है। वह हमें स्वाधीनता का सच्चा अर्थ सिखाता है और उसे पाने का मार्ग बताता है। जो केवल बुद्धिवाद से प्रेरित हैं, उनके लिए पूंजीवाद से लेकर साम्यवाद तक की बहुत सारी विचारधाराएं और जीवन दृष्टियां हैं। दूसरी ओर जो कोरी रूढ़ आस्था और भावना से उन्माद में आकर चलते हैं उन्हें पकड़ने वाले विचारवाद और विभिन्न प्रकार के आंदोलन भी हैं। लेकिन संपूर्ण जीवन अर्थात जीवन के आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में न्याय और नैतिकता की स्थापना करने का न तो इनमें आंतरिक सामर्थ्य है , न सामर्थ्य का कोई प्रमाण। एक ओर सरासर अनीति और कमजोर के शोषण पर आधारित भोगप्रधान जीवन–दृष्टि देने वाला पूंजीवादी विचार है, जो व्यक्ति–स्वातंत्र्य के सपने और वादे पर टिका हुआ है, तो उसी पूंजीवाद की माता की ही कोख से ही और उसी के विरोध में पैदा हुआ समाजवादी–साम्यवादी विचार है, जो जीवन में समता और न्याय के लिए खड़ा हुआ, किंतु न्याय–स्थापना द्वेष आधारित रही। साम्यवाद ने मनुष्य की स्वाधीनता का ही हरण कर लिया। आधुनिक सभ्यता की एक संतान पूंजीवाद ने व्यक्ति की स्वाधीनता के नाम पर न्याय की हत्या की, तो दूसरे ने न्याय की स्थापना के नाम पर मनुष्य की स्वाधीनता को ही दमित कर दिया। स्वाधीनता और न्याय के बीच का टकराव इनकी मूलभूत जीवनदृष्टि में है। तथाकथित आधुनिक 'सभ्यता' की पैदाइश होने के कारण इन दोषों का निराकरण न तो पूंजीवाद और उसके विभिन्न रूपों के पर्यायों में है , न समाजवाद में।

दुनिया के समस्त युद्ध–झगड़े या तो न्याय के लिए या न्याय के ही एक लक्ष्य स्वाधीनता के लिए हुए हैं। ऐसी कौन सी जीवनदृष्टि और जीवन व्यवस्था है, जिसमें न्याय और स्वधीनता एक–दूसरे के साथ समरस हों, एक का विकास दूसरे का भी विकास हो? स्वराज वह विचार और जीवन व्यवस्था है, जिसमें न्याय और स्वाधीनता समरस और अभिन्न हैं। स्वराज खड़ा होता है स्वदेशी और आत्मनिर्भरता जैसी नींव पर, जिसमें गरीब से गरीब को, प्रत्येक नागरिक को अपना स्थान न सिर्फ दिखता है, बल्कि अपने जीवन का निर्माण करने के सूत्र उसके अधिकार में रहते हैं। गांवों की व्यवस्थित संरचना से बने हमारे समाज को हमें फिर से उस दृष्टि से देखना, समझना और संवारना पड़ेगा।गांव–समाज के बिखरने–टूटने से, उसकी एकता कमजोर होने से, गांवों और मेहनतकश गरीबों का शोषण वर्तमान तंत्र के लिए आसान बन गया है। गांधीजी ने इस शोषण से मुक्ति के लिए स्वदेशी व्यवस्था के निर्माण का मार्ग बताया। ●

(लेखक स्वराज पीठ के अध्यक्ष हैं)

देश में चल रहे छाया युद्ध

आज हमारा देश कई समस्याओं और विकृतियों से ग्रस्त और त्रस्त है। इन समस्याओं और विकृतियों से निपटने का, इनसे निस्तार पाने का, इनसे लड़ने का देश में प्रयास भी हुए हैं, हो रहे हैं लेकिन हम असफल रहे हैं । कहीं ऐसा तो नहीं है कि इन समस्याओं और विकृतियों के मूल में जो विकृति है, जो हमारी मौलिक समस्या है, उसकी तरफ हमारा ध्यान नहीं है। विभिन्न बीमारियों की जड़ में जो बुनियादी बीमारी है, उसको हम नहीं पहचान पा रहे हैं, उसका इलाज नहीं कर रहे हैं और सिर्फ इसके विभिन्न लक्षणों से जूझ रहे हैं। हम उस दानव को देख नहीं पा रहे हैं जिसकी नृशंस प्रकृति से हम त्रस्त हैं, उसकी विभिन्न छायाओं से युद्ध कर रहे हैं?

आज हमारा देश कई समस्याओं और विकृतियों से ग्रस्त और त्रस्त है। इन समस्याओं और विकृतियों से निपटने का, इनसे निस्तार पाने का, इनसे लड़ने का देश में प्रयास भी हुए हैं, हो रहे हैं लेकिन हम असफल रहे हैं, असफल हो रहे हैं। प्रयासों और लड़ाइयों के बावजूद ये समस्याएं और विकराल होती गई हैं, विकृतियों और भी विकृत होती गई हैं, इलाज के बावजूद बीमारी और बढ़ती गई है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि इन समस्याओं और विकृतियों के मूल में जो विकृति है, जो हमारी मौलिक समस्या है, उसकी तरफ हमारा ध्यान नहीं है। हम उस मौलिक समस्या और विकृति से उत्पन्न विभिन्न समस्याओं और विकृतियों के समाधान की चर्चा करते हैं, आंदोलन करते हैं। विभिन्न बीमारियों की जड़ में जो बुनियादी बीमारी है, उसको नहीं पहचान पा रहे हैं, उसका इलाज नहीं कर रहे हैं, सिर्फ इसके विभिन्न लक्षणों से जूझ रहे हैं; हम उस दानव को देख नहीं पा रहे हैं जिसकी नृशंस प्रकृति से हम त्रस्त हैं, उसकी विभिन्न छायाओं से युद्ध कर रहे हैं। देश में दशकों से हम इस छाया युद्ध में लिप्त हैं, आंदोलित हो रहे हैं। इन छाया युद्धों का सिंहावलोकन और विश्लेषण उस दानव को देखने–समझने में और उससे निपटने में सहायक होगा।

1. राजनीति का नैतिक अधोपतन

सबसे शीर्ष पर तो है देश की राजनीति, देश को दिशा और दशा निर्धारित करने में जिसकी अहम भूमिका है, की विकृति। आज की राजनीति पूर्णतः सत्ता केन्द्रित, मूल्यविहीन और सिद्धांत विरक्त हो गई है। देश और समाज में नैतिक अधोपतन की गंगोत्री है यह राजनीति। चूँकि भारत के संसदीय लोकतंत्र में राजनीति दलीय आधार पर की जाती है, हर दल का एकमात्र और अंतिम लक्ष्य है किसी तरह सत्ता में आना, संभव हो तो पूर्ण बहुमत से एकल रूप में या नहीं तो गठबंधन की रणनीति अपना कर साझा रूप में। हर राजनीतिकर्मी उस दल की सदस्यता ग्रहण करना चाहता है जिसकी सरकार में आने की, एकल या साझा रूप में, संभावना हो। फिर उस दल के सदस्य के रूप में उसका सरकार में आना तभी संभव हो सकता है जब वह उस दल के टिकट पर राज्य की विधानसभा या देश की लोकसभा के लिए निर्वाचित हो सके। पहले तो उस दल का टिकट पाने की भाग–दौड़, आपा–धापी, मारा–मारी होती है, और फिर टिकट मिलने पर मतदाताओं को लुभाने के लिए, प्रभावित करने के लिए, हर हथकंडा, हर तिकड़म अपनाया

उन्नीसवीं–बीसवीं शताब्दी के प्रख्यात ब्रिटिश साहित्यकार एवं नाटककार जॉर्ज बर्नार्ड शॉ की यह उक्ति कि "राजनीति बदमाशों का अंतिम पड़ाव है" भारत में आज पूर्णतः चरितार्थ है। जिस देश की संस्कृति और इतिहास राम, कृष्ण, बुद्ध, चाणक्य, अशोक, अकबर और गाँधी जैसी विभूतियों द्वारा व्यवहृत राजनीति से बना हो, उस देश में राजनीति की यह अधोगति भारत के लिए शर्म और दुर्भाग्य की बात है। भारत में राजनीति की इस अधोगति का विश्लेषण करें तो स्पष्ट होगा कि यह राजनीति उस औपनिवेशिक शासन पद्धति से उपजी है जिसका उद्देश्य था शासित जनता का व्यवस्थित ढ़ंग से शोषण और नैतिक अधोपतन सुनिश्चित करना।

जाता है–धनबल, बाहुबल, सांप्रदायिक या जातीय समीकरण। जिस तरह कहा जाता है कि प्रेम और युद्ध में जीत के लिए हर चीज जायज है, चुनाव में भी यही बात है। इस पूरी चुनावी प्रक्रिया में आदर्शों का, सिद्धांतों का, मूल्यों का कहीं कोई स्थान नहीं है। यहाँ तक कि कानून का भी नहीं। हमारी लोकसभा या विधानसभाओं में स्वच्छ छवि के लोग आएं, मतदाता बिना किसी अनुचित दबाव या प्रलोभन के अपने मत का स्वतंत्र मन से उपयोग कर सके, चुनाव में प्रत्याशी अपनी जीत के लिए धन, बल या अन्य हथकंडों का गलत इस्तेमाल नहीं करें, इसके लिए कई कानून बनाए गए हैं और अनुभव के आलोक में उन कानूनों को ज्यादा प्रभावकारी बनाने के लिए या उनकी कमियों को दूर करने के लिए उनमें संशोधन किए गए या नए कानून बनाए गए। इन कानूनों के बावजूद लोकसभा और विधानसभाओं में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों में आपराधिक पृष्ठभूमि या धनाढ्य वर्गों के प्रतिनिधियों की संख्या अच्छी–खासी है। यही नहीं, यदि गणतंत्र भारत की विभिन्न लोकसभाओं और विधानसभाओं की निर्वाचित सदस्यता का विश्लेषण किया जाए तो हम पाएंगे कि यह संख्या बढ़ती ही गई है। यदि एक से अधिक बार निर्वाचित हुए सदस्यों की धनाढ्यता का आकलन करें तो पाएंगे कि यह भी बढ़ती गई है। और यह बढ़ोत्तरी तो सदस्यों द्वारा ही दी गई आंकड़ो के आधार पर परिलक्षित है। आम भाषा में कहें तो यह बढ़ोत्तरी एक नंबर के खाता के आधार पर आकलित है। बढ़ोत्तरी की वास्तविक स्थिति तो कुछ और भी बयाँ करती है। धनलिप्सा द्वारा चालित आज की राजनीति में अनैतिकता का बोलबाला है। फलतः भारतीय जनमानस में राजनीति और राजनीतिकर्मियों के प्रति नकारात्मक और तिरस्कार की भावना है। उन्नीसवीं–बीसवीं शताब्दी के प्रख्यात ब्रिटिश साहित्यकार एवं नाटककार जॉर्ज बर्नार्ड शॉ की यह उक्ति कि ''राजनीति बदमाशों का अंतिम पड़ाव है'' भारत में आज पूर्णतः चरितार्थ है। जिस देश की संस्कृति और इतिहास राम, कृष्ण, बुद्ध, चाणक्य, अशोक, अकबर और गाँधी जैसी विभूतियों द्वारा व्यवहृत राजनीति से बना हो, उस देश में राजनीति की यह अधोगति भारत के लिए शर्म और दुर्भाग्य की बात है। भारत में राजनीति की इस अधोगति का विश्लेषण करें तो स्पष्ट होगा कि यह राजनीति उस औपनिवेशिक शासन पद्धति से उपजी है जिसका उद्देश्य था शासित जनता का व्यवस्थित ढ़ंग से शोषण और नैतिक अधोपतन सुनिश्चित करना। जब स्वतंत्र भारत में युगद्रष्टा और राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की घोर अवहेलना कर वही शासन व्यवस्था अपना ली गई, तो राजनीति का यह हस्र होना नितान्त स्वाभाविक है। जब तक यह शासन व्यवस्था रहेगी, हमारे देश की राजनीति का स्वरूप कभी भी, किसी भी कानून से, कितनी भी तीक्ष्ण लोक भर्त्सना से नहीं बदलेगा, समय के साथ और विकृत ही होता जाएगा।

2. भ्रष्टाचार की विभीषिका

दूसरे, देश में भ्रष्टाचार ऊपर से नीचे तक व्यापक और चरम सीमा पर है। निरंकुश भ्रष्टाचार के बोझ से जनता उत्पीड़ित है। भारत में भ्रष्टाचार के इतिहास की गवेषणा करें तो पाएंगे कि औपनिवेशिक शासन पद्धति के साथ ही भारत में व्यवस्थागत भ्रष्टाचार का जन्म हुआ और फला–फूला। जिस शासन पद्धति का उद्देश्य ही था देश का शोषण और इसे व्यवस्थित और चिरस्थायी बनाने के लिए इसके वासियों का नैतिक पतन सुनिश्चित करना, वह शासन तो भ्रष्टाचार की बुनियाद पर ही तो खड़ा है। उस समय की सरकार में उन कार्यालयों में जहाँ जनता से सीधा संबंध था जैसे पुलिस, रजिस्ट्री, इत्यादि और उन विभागों में जहाँ जनता के करों से संगृहित सरकारी पैसे से लोक कार्य किए जाते थे, भ्रष्टाचार इतना खुलेआम था कि वह सरकारी कार्य संस्कृति बन चुका था। सरकार

के उच्चतर स्तरों पर जहाँ जनता का सीधा संपर्क नहीं था, भ्रष्टाचार दूसरे रूप में, संस्थागत रूप में, कार्यशील था। लेकिन औपनिवेशिक शासनकाल में भ्रष्टाचार का स्पष्ट अस्तित्व और कार्य संस्कृति के बावजूद शासित और शासक वर्गों में भी यह समस्या और विकृति के रूप में कभी भी नहीं उभरा। यहाँ तक कि औपनिवेशिक शासन काल में भ्रष्टाचार को आपराधिक कृति मानकर उसके प्रतिकार के लिए कोई विशेष कानून नहीं था। 1941 में विश्वयुद्ध के लिए सामानों की आपूर्ति में गड़बड़ी की जाँच के लिए ''विशेष पुलिस स्थापना'' का प्रावधान किया गया था। फिर केन्द्रीय सरकार के विभिन्न विभागों में भ्रष्टाचार या अन्य गड़बड़ियों की जाँच के लिए 1946 में ''दिल्ली पुलिस स्थापना'' कानून लाया गया। इसी को उत्क्रमित करते हुए स्वतंत्र भारत में 1963 में केन्द्रीय जाँच ब्यूरों (सी. बी.आइ.) की स्थापना हुई जिसका कार्यक्षेत्र केन्द्र सरकार के अतिरिक्त विशेष अनुरोध पर राज्यों में भी रखा गया।

सरकार में व्याप्त भ्रष्टाचार को एक समस्या के रूप में लेते हुए 1988 में एक व्यापक भ्रष्टाचार निवारण कानून बना। इसके अलावा विभिन्न क्षेत्रों में भ्रष्टाचार से निपटने के लिए या तो उन क्षेत्रों के लिए बने कानूनों में विशेष प्रावधान किए गए, जैसे जन प्रतिनिधित्व कानून में, या अलग से कानून बनाए गए यथा 2002 में पारित ''मनी लौंडरिंग निवारण'' कानून। फिर राज्यों में भ्रष्टाचार मामलों के उद्भेदन, जाँच और त्वरित निष्पादन के लिए बहुत से कानून, संगठन और विशेष प्रक्रियाएं बनाई गईं, यथा सतर्कता संगठन, विशेष जाँच दल, लोकपाल, इत्यादि। भ्रष्टाचार निवारण के इन कानूनों, संगठनों और प्रक्रियाओं के फलस्वरूप एक तरफ तो बहुत से दोषी पकड़े जाने लगे और उनमें से बहुत सजायाफ्ता भी हुए, लेकिन दूसरी तरफ सरकार में भ्रष्टाचार और गहरा, व्यापक और विशाल होता गया। स्पष्ट है कि बीमारी कुछ और है, दवा कुछ और चीज के लिए चल रही है, हम दुश्मन से नहीं उसकी छाया से लड़ रहे हैं। दोष तो उस शासन व्यवस्था में है, जो मूलतः बनाई गई थी शासित के शोषण और नैतिक पतन सुनिश्चित करने के लिए। भ्रष्टाचार तो औपनिशिक शासन की प्रेरणा है, इस शासन वृक्ष के बीज रूप में भ्रष्टाचार है। इस वृक्ष के पत्ते कितने ही लुभावने हों, इसके फल तो भ्रष्टाचार से प्रदूषित होंगे ही।

वर्त्तमान शासन व्यवस्था से जनित, सम्पोषित और संवर्द्धित भ्रष्टाचार के एक और पक्ष पर भी गौर करना चाहिए। भ्रष्टाचार के सजायाफ्ता बहुत से व्यक्ति, जो जेलों में बहुत काल से बंद हैं या अन्य रूप से सजा भुगत रहे हैं या जो भ्रष्टाचार की लंबी न्यायिक प्रक्रिया या सजा के दौरान मर गए, वे शासनतंत्र में आने या शासन तत्र के संपर्क में आने के पूर्व आदर्शवादी, चरित्रवान या नहीं तो कम से कम ऐसे व्यक्ति थे जिनके चरित्र पर कोई दाग नहीं था। स्पष्टतः उनका चारित्रिक ह्रास इस शासन व्यवस्था की ही देन है। उनका नैतिक पतन, शारीरिक यातना, मानसिक पीड़ा और सामाजिक कलंक का जिम्मेदार मूल रूप से यह शासन व्यवस्था ही है।

3.गरीबी और गरीबी–अमीरी की बढ़ती खाई का दंश

तीसरे, देश में गरीबी का दायरा स्वतंत्रता के बाद बढ़ता ही गया है। शहरों में बढ़ती आबादी वाली झुग्गी झोपड़ियों, निम्न स्तर के चालों और आवासों तथा गाँवों में भारत की गरीबी का नग्न रूप संवेदनशील व्यक्तियों को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता। पिछले दस–पन्द्रह सालों में गरीबी के साथ–साथ गरीब–अमीर की खाई भी गहरी और चौड़ी होती गई है, इतनी गहराई और चौड़ाई कि दोनों ओर के लोगों की दुनिया भी नितान्त भिन्न और अभेद्य हो गई है। सामाजिक और आर्थिक रूप से देश विखंडित हो गया है। एक भारत तो उनका है जो शोषणात्मक व्यवस्था से पूर्ण या आंशिक रूप से लाभान्वित हैं और दूसरा भारत वह है जहाँ देश की अधिकांश जनता जो इस व्यवस्था में अंतिम रूप से शोषण का भार वहन करती है अपनी गरीबी और जहालत से जूझ रही है। आर्थिक असमानता गरीबी को और असह्य और असहाय बना देती है।

देश की इस विकृति का भी हम यदि विस्तृत और गहराई से विश्लेषण करें तो हम पाएंगे क इस की जड़ में भी हमारी शासन व्यवस्था ही है। औपनिवेशिक शासन का तो उद्देश्य ही था इस देश का शोषण, जिसका अर्थ था इस देश के प्राकृतिक और अन्य संसाधनों का उपयोग उनसे जुड़े लोगों को वंचित कर शोषक के हित में सुनिश्चित करना। ऐसे शोषण को दीर्घस्थायी बनाने के लिए इसे व्यवस्थागत बनाना आवश्यक था। अंग्रेजों द्वारा बनाई गई और भारत के उनके उपनिवेश पर थोपी गई यह शासन

व्यवस्था इसी आवश्यकता को पूरा करता था। इस शासन व्यवस्था की दो प्रमुख विशेषताएं थी, एक शोषण में निपुणता और दूसरे शासित का नैतिक अधोपतन सुनिश्चित करना। ऐसी व्यवस्था में शोषण एक श्रृंखलाबद्ध तरीके से संपन्न होता था जिसमें एक तरफ तो भारत की विशाल जनता, जो गाँवों में बसती थी, शोषण का अंतिम रूप से शिकार थी और दूसरी तरफ सात समुंदर पार के देश की जनता जो इस शोषण का अंतिम और प्रमुख रूप से लाभुक थी। शोषणतंत्र के इन दोनों छोरों के बीच भारत के बहुत से वर्ग थे, यथा सरकारी अधिकारी या कर्मी, वकील, जमींदार, राजे–महाराजे आदि, जो इस शोषण में सहायक या सहयोगी की भूमिका निभाने के लिए विभिन्न रूपों में शोषण का लाभांश प्राप्त करते थे। ऐसी भूमिका निभाने वाले व्यक्तियों और वर्गों से ही औपनिवेशिक शासन काल में अपेक्षाकृत सुविधा सम्पन्न छोटे और बड़े शहरों की उत्पत्ति हुई। इस शोषण का सारा भार –शोषक का प्रमुख लाभ और शोषण में सहायकों और सहयोगियों का लाभांश – गाँवों में रहने वाली जनता वहन करती थी – अपनी बढ़ती गरीबी से, भुखमरी से और बदहाली से। औपनिवेशिक शासन के दौ सौ वर्षों में जितने और जितने भीषण अकाल भारत में हुए और उनके चलते जितने लोग मरे, वह भारत के हजारों साल के इतिहास में अद्वितीय है। और इसमें शोषणात्मक शासन व्यवस्था की अहम भूमिका है। स्वतंत्र भारत में भी वही शासन व्यवस्था अपना कर हम विभिन्न रूप में मूलतः वही परिस्थिति पैदा कर रहे हैं। शोषण का स्वरूप बदल गया है, शोषण की प्रक्रिया बदल गई है, शोषण बदस्तूर जारी है। एक खर्चीली, वृहदाकार और घिसे–पिटे शासनतंत्र का बोझ और काले धन का बोझ तो अंततः जनता ही वहन करती है – अपनी गरीबी और बदहाली के माध्यम से। गाँवों में खेती अलाभकारी हो गई है, उद्योग–धंधे नष्ट हो गए हैं और विकास की धारा सचिवालयों से चलकर गाँवों तक पहुँचने पर क्षीणप्राय हो जाती है। फलतः रोजी–रोटी के लिए गाँवों के लोग शहरों में पलायन करने और वहाँ जहालत की जिंदगी जीने के लिए मजबूर हैं, गाँव वीरान हो रहे हैं। और जो शासन व्यवस्था इस परिस्थिति को पैदा कर रही है, वह किस तरह इसका मुकाबला कर रही है? गाँवों में रोजगारपरक एक स्वस्थ अर्थव्यवस्था की जगह रोजगार गारंटी योजना के तहत मजदूरी का न्यूनतम पैसा दे रही हैं, खेती को लाभकारी बनाने के बजाय खाद्य सुरक्षा योजना के तहत अन्नदाता को अन्न की भीख की गारंटी दे रही है, शिक्षा के अधिकार के नाम पर गुणवत्ताविहीन शिक्षा प्रदान कर देश में द्वितीय श्रेणी का नागरिक पैदा करने का प्रावधान कर रही है। और विडम्बना तो यह है कि इन अधिकारों संबंधी कानूनों को सरकार अपनी सराहनीय उपलब्धियों में शुमार कर वोट बैंक की राजनीति में अपना परचम लहरा रही है। यदि कानून पास करने से देश में बेरोजगारी, भुखमरी और अशिक्षा खत्म हो जाए तो सरकार समृद्धि का अधिकार, भ्रष्टाचार मुक्त शासन का अधिकार या जनता की अन्य अपेक्षाओं का अधिकार कानून द्वारा प्रदान कर क्यों नहीं वैसा देश बना रही है जिसकी आकांक्षा जनता दशकों से कर रही है। लेकिन काश, कानून से ऐसा हो सकता, हो सकता है समुचित शासन व्यवस्था से।

पिछली शताब्दी के नब्बे के दशक में शासन व्यवस्था से जनित देश की बिगड़ती आर्थिक स्थिति और वैश्विक अर्थ व्यवस्था में भारत की गिरती साख के दबाव में आकर भारत ने समाजवाद की अपनी सांस्कृतिक और पारम्परिक मान्यता और संविधानिक आकांक्षा की तिलांजलि देकर आर्थिक सुधार के नाम पर देश की अर्थव्यवस्था को वैश्विक बाजार के हवाले कर दिया गया। भारतीय अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण, निजीकरण और उदारीकरण के माध्यम से विशाल भारतीय जनता विकसित देशों के लिए एक आकर्षक बाजार बन गई और हजारों साल की उसकी अपनी संस्कृति बाजारवाद और उपभोक्तावाद की संस्कृति के प्रहार से तार–तार हो गई। यदि वर्त्तमान शासन व्यवस्था में जनता की अहमियत एक वोट–बैंक के रूप में है तो नई अर्थव्यवस्था में यह मात्र एक उपभोक्ता के रूप में है। इस तरह, शोषणात्मक शासन व्यवस्था और मुनाफा प्रेरित अर्थव्यवस्था की दुधारी तलवार के प्रहार से गरीबी और उसे दुःसह बनाने वाली आर्थिक असमानता दोनों बढ़ती गई। और जिस तरह देश के कई वर्ग शोषणात्मक शासन व्यवस्था से लाभान्वित हैं – इस व्यवस्था में सीधे भाग लेकर या इस अनैतिकतापरक व्यवस्था का दुरूपयोग कर, उसी तरह इस मुनाफा प्रेरित अर्थव्यवस्था में देश के कई वर्ग लाभान्वित हैं। शीर्ष में अंतिम रूप से तो देश

और विदेश का वह अपेक्षाकृत छोटा वर्ग लाभान्वित है जो इस व्यवस्था को नियंत्रित करता है, मध्य में देश का वह बढ़ता वर्ग लाभान्वित है जो इस व्यवस्था के संचालन में देश के मानव या प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के माध्यम से सहयोग करता है। निचले पायदान पर पड़ी देश का विशाल जनसमूह उपभोक्ता के रूप में शीर्ष और मध्य में स्थित लाभान्वित वर्गों के लाभ का भार वहन करने को मजबूर है। यह लाभ देश में कृषि या उद्योग द्वारा उत्पादन बढ़ाकर उस के धन से या उसके न्यायपूर्ण वितरण से नहीं बल्कि अधिकांशतः उस उपभोक्ता जनसमूह के आर्थिक शोषण से आता है। इस तरह निचले स्तर पर अवस्थित देश की अधिसंख्यक जनता तो वोट बैंक के रूप में शासन व्यवस्था से और उपभोक्ता के रूप में अर्थव्यवस्था से शोषित होते रहने को अभिशप्त है। देश की बढ़ती गरीबी और गरीब–अमीर की बढ़ती खाई इसी दुहरे शोषण का परिणाम है। और चूँकि यह अर्थव्यवस्था भी इसी शासन व्यवस्था की देन है, तो हम कह सकते हैं कि देश की गरीबी और इसे दुःसह बनाती बढ़ती आर्थिक असमानता इसी शासन व्यवस्था की उपज है। और हम गरीबी और विषम आर्थिक असमानता के मौलिक कारण का उपचार न कर इन्हें झेलती विशाल जनता के दंश को रोजगार गारंटी, खाद्य सुरक्षा, शिक्षा का अधिकार या अन्य लोक लुभावन योजनाओं के माध्यम से सह्य बनाने का प्रयास करते हैं और इनके माध्यम से वोट बैंक की अपनी राजनीति सुनिश्चित करते हैं। स्थिति तो यह है कि गरीब और गरीबी इस शासन व्यवस्था से उपजी राजनीति का आकर्षक चुनावी मुद्दा बन गई है जो चुनाव की वैतरणी पार करा कर सत्ता प्राप्त करने का मार्ग सुगम करती है। 'गरीबीं हटाओ' का नारा आम चुनाव में जीतने का मंत्र बन जाता है, 'गरीब रथ' चलाकर गरीबों का मसीहा बनने का मौका मिलता है, विभिन्न योजनाओं के माध्यम से गरीबी को सह्य बनाने का अवसर मिलता है, तो गरीबी का निर्मूल नाश करने में हमारी रूचि कहाँ है? इस शासन व्यवस्था में तो गरीबी में हमारा निहित स्वार्थ है। गरीबी तो गरीबी से संबंधित विभिन्न छाया युद्धों में हमें योद्धा बनने का गौरव प्रदान करती है। जो व्यवस्था गरीबी को जन्म देती है वह उसका कैसे विनाश कर सकती है ? जिस गरीबी में वर्त्तमान राजनीति का निहित स्वार्थ हो, उसे मिटाने की प्रेरणा कहाँ है?

4. सामाजिक अशांति और अंतर्विद्रोह की त्रासदी

चौथे, सामाजिक अशांति, अन्तर्विद्रोह, अलगाववाद और क्षेत्रीयता स्वतंत्रता के बाद देश में जनमी, पली, बढ़ी और बढ़ती ही गई है। इस समस्या के मूल में भी हमारी शासन व्यवस्था ही है। विविधता में एकता भारत की पहचान, शक्ति, परंपरा और संस्कृति रही है। सात समुंदर पार से आए अपने अनैतिक उद्देश्य को साधने के लिए अंग्रेजों ने जिस शासन व्यवस्था की स्थापना की, उसमें ''बाँटो और राज करो'' की रणनीति रही है। स्वतंत्र भारत में अपनाई गई वही शासन व्यवस्था उन्हीं उद्देश्यों को सम्पोषित करेगी, वही रणनीति प्रभावी होगी और वही स्वरूप ग्रहण करेगी। स्वतंत्र भारत में भी शासन व्यवस्था शोषण और अनैतिकता की पोषक है, इसमें भी ''बाँटो और राज करो'' की रणनीति कारगर है, शासक और शासित का स्तरीय भेद इसमें भी बदस्तूर कायम है। स्पष्ट रूप से सामाजिक अशांति, अन्तर्विद्रोह और अलगाववाद इसी के परिणाम हैं। समय के साथ और परिस्थितियों के अनुरूप इनकी जड़ें और गहरी, विस्तृत और विकृत हुई हैं। अंग्रेजों ने तो भारतीय समाज को धर्म के नाम पर बाँटा, उनके उत्तरवर्ती भारतीय शासकों ने समाज को धर्म के अलावा जातियों और उपजातियों में भी बाँट दिया। औपनिवेशिक भारत में तो कुछ प्रबुद्ध लोग ही परतंत्र होने का एहसास या परतंत्रता की पीड़ा का अनुभव करते थे। भारत के अधिकांश लोग तो उसी व्यवस्था को अपनी नियति मानकर चल रहे थे। आज तथाकथित स्वतंत्र भारत में उसी शासन व्यवस्था में बहुत से वर्ग असहभागिता, उपेक्षा और शोषण का एहसास और अनुभव करने लगे और हिंसक विद्रोह पर उतारू हो गए। फलतः औपनिवेशिक भारत से कहीं ज्यादा स्वतंत्र भारत में अन्तर्विद्रोह पनपा और विस्तृत होता गया है। इसी शासन व्यवस्था में अलगाववाद की भावना, प्रवृत्ति और उस पर आधारित आंदोलन पैदा होते हैं, बढ़ते हैं और उग्र होते हैं। और हम कैसे इन समस्याओं का सामना करते हैं? हम एक तरफ तो अपने को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित करते हैं और दूसरी तरफ उसी राज में अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक की 'वोट बैंक' की राजनीति करते हैं, हम एक तरफ तो जाति आधारित कानून, आरक्षण, आयोग और थाना बनाते हैं और दूसरी तरफ

आज देश जिन समस्याओं से आक्रांत और उद्वेलित है यथा, राजनीति का नैतिक अधोपतन और विकृति, भ्रष्टाचार, गरीबी और गरीब–अमीर की बढ़ती खाई, और सामाजिक अशांति, अन्तर्विद्रोह और अलगाववाद, वे सब इस शासन व्यवथा की उपज हैं और हम इसी शासन व्यवस्था के माध्यम से उनका निदान या प्रतिकार के लिए आंदोलित होते हैं, कानून बनाते हैं, सत्ता परिवर्त्तन करते हैं और फिर पाते हैं कि समस्याओं का निदान तो दूर, वे बढ़ती ही गई हैं, विकराल से विकरालतर होती गई हैं। स्पष्ट है कि हम प्रतिकार का जो भी प्रयास करते हैं, वे मात्र छायायुद्ध हैं, असल दानव तो यह शासन व्यवस्था है, इसको परास्त किए बिना, यानी इसका परिवर्त्तन किए बिना हम इन छायायुद्धों से किसी भी समस्या का समाधान नहीं कर सकते।

राजनीति के ऊँचे मंच से जातीयता की भर्त्सना करते हैं, हम एक तरफ तो अन्तर्विद्रोह को जन्म देते हैं और जब यह बढ़ता है तो इसे सशस्त्र दबाने की कोशिश करते हैं तो दूसरी तरफ हमारी नीति और राजनीति उपेक्षा और अलगाववाद को जन्म और प्रश्रय देती है। भारतीय समाज में हिन्दू, मुस्लिम और अन्य धर्मावलम्बी लोगों का शांतिपूर्ण सहअस्तित्व ही नहीं, भारतीय संस्कृति को समृद्ध करने वाली विविधता के रूप में सदियों से विद्यमान थी। भारत में जाति और वर्ण हजारों सालों से समाज को संचालित करने वाली एक स्वस्थ व्यवस्था के रूप में रहा है, समाज को विखंडित करने वाली जातीयता तो इस शासन व्यवस्था की उपज है। भारत में आदिवासी और वनवासी सदियों से अपनी सभ्यता और संस्कृति को अक्षुण्ण रखते हुए भारतवासी के रूप में विविध भारती में अपना योगदान देते रहे थे। औपनिवेशिक भारत तथा स्वतंत्र भारत के शोषणात्मक शासन व्यवस्था में वे उपेक्षा और शोषण के शिकार हो कर अन्तर्विद्रोह में सहयोगी बने। नई अर्थव्यवस्था में प्राकृतिक संसाधनों के निर्बाध दोहन में आदिवासियों और वनवासियों के न्यायोचित हितों और अधिकारों की अवहेलना होती है और जब वे इनके प्रतिकार में आंदोलित होते हैं तो राज्य सीधे पुलिस बल से या छदम् रूप से सलवा जुडूम जैसे तथाकथित नागरिकों के प्रतिरोधी सशस्त्र संगठन के माध्यम से उनका दमन करती है। इस तरह इस शासन व्यवस्था में भारत के आदिवासी और वनवासी समाज में भी अशांति और अन्तर्विद्रोह पैदा होते हैं और जिस तरह इस समस्या से निपटा जाता है, यह दबता नहीं, बढ़ता ही जाता है। ऐसा इसलिए कि यह समस्या इस शासन व्यवस्था की उपज है और इसका निदान शासन व्यवस्था परिवर्त्तन ही है।

5. छायायुद्ध नहीं, मुक्ति की असली लड़ाई

अतः हम देखते हैं कि आज देश जिन समस्याओं से आक्रांत और उद्वेलित है यथा, राजनीति का नैतिक अधोपतन और विकृति, भ्रष्टाचार, गरीबी और गरीब–अमीर की बढ़ती खाई, और सामाजिक अशांति, अन्तर्विद्रोह और अलगाववाद, वे सब इस शासन व्यवथा की उपज हैं और हम इसी शासन व्यवस्था के माध्यम से उनका निदान या प्रतिकार के लिए आंदोलित होते हैं, कानून बनाते हैं, सत्ता परिवर्त्तन करते हैं और फिर पाते हैं कि समस्याओं का निदान तो दूर, वे बढ़ती ही गई हैं, विकराल से विकरालतर होती गई हैं। स्पष्ट है कि हम प्रतिकार का जो भी प्रयास करते हैं, वे मात्र छायायुद्ध हैं, असल दानव तो यह शासन व्यवस्था है, इसको परास्त किए बिना, यानी इसका परिवर्त्तन किए बिना हम इन छायायुद्धों से किसी भी समस्या का समाधान नहीं कर सकते। हमें इस दानव को पहचानना है, इसके वाह्य स्वरूप से मोहित या दिग्भ्रमित न होकर इसके असल स्वरूप को, इसके शोषणात्मक और अनैतिकतापरक स्वरूप को पहचानना है, समझना है, ऐसा समझकर हमें लड़ना है इसको परास्त करने के लिए, बदलने के लिए और इसकी जगह स्थापित करना है ऐसी शासन व्यवस्था जो हमारी समृद्ध भारतीय संस्कृति और प्रतिभा के अनुरूप हो, जो सही माने में लोकतांत्रिक हो, जिसमें सरकार कार्यरूप में ''जनता के लिए, जनता के द्वारा और जनता की'' हो। जब हम इस असली लड़ाई, जिसका बिगुल महात्मा गाँधी ने फूँका था– अंग्रेजों को भगाने के लिए नहीं, उनकी शासन व्यवस्था हटाने के लिए, जो लड़ाई 15 अगस्त 1947 को राजनीतिक स्वतंत्रता के पड़ाव पर आकर दिग्भ्रमित हो गई, शासन व्यवस्था परिवर्त्तन के माध्यम से उसी लड़ाई को जीतने पर ही एक नए भारत का उदय होगा, जिसमें राजनीति का स्वरूप बदलेगा, भारत भ्रष्टाचार मुक्त होगा, समावेशी विकास होगा और लोक समृद्धि आएगी। ●

व्यक्ति और व्यवस्था

शासन व्यवस्था परिवर्त्तन या किसी और व्यवस्था परिवर्त्तन के संदर्भ में कुछ लोगों का तर्क है व्यवस्था तो व्यक्तियों से बनती है और यदि व्यक्ति ठीक हो या हो जाय तो व्यक्तियों द्वारा निर्मित व्यवस्था भी स्वतः ठीक रहेगी या हो जाएगी। इस तर्क के अनुसार यदि व्यवस्था को ठीक करना है तो व्यक्ति पर ध्यान केन्द्रित करो और उसे ठीक करने का प्रयास करो। ऐसी धारणा भ्रामक है। व्यवस्था केवल व्यक्तियों का समूह मात्र नहीं है। जो नियम, संहिता, परम्परा इत्यादि उन व्यक्तियों के पारस्परिक और सामाजिक कार्यों को प्रभावित और नियमित करते हैं वे भी उस व्यवस्था के अभिन्न अंग हैं। इन सब की वजह से जो व्यवस्था बनती है वही उस व्यवस्था के गुण और विशेषता का निर्माण और निर्धारण करते हैं, जैसे व्यक्ति का व्यक्तित्व उसकी शारीरिक रचना, मन, बुद्धि, विवेक और संस्कार से निर्मित और निर्धारित होता है। जैसे व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के आधार पर और उसके अनुरूप ही अपने सामाजिक और अन्य परिवेशों को प्रभावित करता है, उसी तरह व्यवस्था भी अपने गुण और विशेषता के आधार पर ही सम्बद्ध व्यक्तियों की मानसिकता और क्रियाकलाप को प्रभावित करती है। व्यक्ति अपने आदर्श, उद्देश्य और मान्यताओं के अनुरूप व्यवस्था का निर्माण करता है और निर्मित व्यवस्था उनके आधार पर अपना गुण और विशेषता ग्रहण करती है और तदनुसार व्यक्ति को प्रभावित करती है। व्यवस्था का व्यक्ति पर यह प्रभाव कितना और कैसा है, यह व्यवस्थागत गुण और विशेषता के अलावा व्यक्ति के संस्कार और मान्यताओं पर, यानी उसके व्यक्तित्व पर भी निर्भर करता है। एक ही व्यवस्था विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न रूप से प्रभावित करती है। यदि व्यवस्था दोषपूर्ण है, तो व्यक्तित्व के बल पर कुछ लोग उस दोष से ज्यादातर अछूते रह सकते हैं, कुछ लोग उस दोष का भरपूर लाभ अपने स्वार्थ के लिए ले सकते हैं, कुछ लोग उस दोषपूर्ण व्यवस्था से बगावत कर सकते हैं लेकिन अधिकांश लोग अपने को उस दोषपूर्ण व्यवस्था से सामंजस्य बनाकर अपना जीवनयापन करते हैं। समाज का स्वरूप इन्हीं अधिकांश लोगों के आचरण से प्रभावित होता है। अतः यदि समाज के स्वरूप को विकृतियों से मुक्त करना है तो हमें अनिवार्यतः व्यवस्था पर आघात करना होगा, उसे वांछित रूप से बदलना होगा। व्यक्तियों को बदल कर इन व्यवस्था जनित विकृतियों को दूर करने का विचार भ्रामक है और उसके लिए प्रयास अधिकांशतः निरर्थक होगा। व्यक्ति में सुधार उस व्यक्ति के व्यक्तित्व को निखारने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, वृहत्तर समाज के लिए उतना सार्थक नहीं।

हमारे इतिहास की कई महत्त्वपूर्ण घटनाओं से व्यक्ति और व्यवस्था का यह अन्तर्सम्बंध उजागर होता है। जब गौतम बुद्ध ने लोगों की पीड़ाओं को देखा तो उन्होंने पीड़ित व्यक्तियों को सांत्वना या पीड़ा सहन की शिक्षा नहीं दी, वे उस व्यवस्था की खोज में निकले जिसमें ऐसी पीड़ा अर्थहीन हो जाए। उन्होंने अपने ज्ञान के प्रकाश में लोगों के रहन–सहने और तत्कालीन धार्मिक व्यवस्था के ही परिवर्त्तन का उपदेश दिया। बौद्ध धर्म के रूप में उस उपदेश की सार्थकता और संदेश ने देश–दुनिया के लोगों के जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया। कई सदियों बाद हिंदू धर्म की मौलिक मान्यताओं की उत्कृष्टता को उद्घाटित कर शंकराचार्य ने उसे पुनः भारत में प्रतिष्ठापित किया और इस तरह इसकी धार्मिक व्यवस्था को परिवर्त्तित कर डाला। भारत की धार्मिक व्यवस्था में ये दोनों परिवर्त्तन व्यवस्थागत परिवर्त्तन थे जिसने सम्बद्ध व्यक्तियों के जीवन को व्यापक और मौलिक रूप से प्रभावित किया। व्यक्तियों में परिवर्त्तन लाकर व्यवस्था नहीं बदल गई । व्यक्ति आधारित परिवर्त्तन से व्यक्तियों का धर्मांतरण हो सकता है, व्यवस्थागत परिवर्त्तन नहीं।

देश में एक और व्यवस्थागत परिवर्त्तन हुआ जब इस्ट इंडिया कम्पनी के माध्यम से अंग्रेज भारत में आए और इसे एक उपनिवेश के रूप में शासित और शोषित करने का उन्हें एक ऐतिहासिक अवसर मिला। उद्देश्य था सात समुंदर पार बसे अपने देश की समृद्धि के लिए एक समृद्ध देश का एक उपनिवेश के रूप में शोषण और उसके लिए आवश्यक थी एक व्यवस्था। इस व्यवस्था को अभिकल्पित करने के लिए ब्रिटिश संसद द्वारा भेजे गए लॉर्ड मेकॉले

ने पूरे भारत का भ्रमण कर यहाँ की स्थितियों का अध्ययन और आकलन किया। उनकी रिपोर्ट के आधार पर भारत में एक ऐसी शासन और उससे सम्बद्ध शिक्षा व्यवस्था स्थापित की गई जिसके द्वारा सौ साल से ज्यादा वर्षों तक एक संसाधन समृद्ध देश का शोषण और उसकी उच्च संस्कृति सम्पन्न जनता का नैतिक पतन व्यवस्थित और शांतिपूर्ण ढंग से किया जाता रहा। भारत के जन समुदाय की उच्च नैतिकता, जिसका वर्णन लॉर्ड मेकॉले ने अपने रिपोर्ट में किया ही नहीं था, अपनी संस्तुति भी उसको ध्यान में रखकर ही किया था, उस व्यवस्था की शिकार बन गई, उनका नैतिक अधोपतन होता रहा और पूरा देश, यहाँ के राजे–महाराजे, यहाँ की जनता चाहे वे किसान हों, मजदूर हों, व्यापारी हों, उद्योगपति हों – सब सात समुंदर पार बसे एक देश का गुलाम हो गए। ये सारे लोग गुलामी का दंश झेलते रहे, शोषित होते रहे, नैतिक पतन की गर्त में गिरते गए। ये सब सिर्फ इसीलिए कि उनके ऊपर एक ऐसी ही व्यवस्था थोपी गई थी। व्यवस्था का व्यक्ति के चरित्र और आचरण पर कितना गंभीर प्रभाव हो सकता है, इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण है भारत के लोगों, जिनका चरित्र हजारों सालों की संस्कृति की नींव पर निर्मित है, का औपनिवेशिक शासन व्यवस्था में घोर नैतिक अधोपतन। महात्मा गाँधी जब भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में अवतरित हुए तो उन्होंने तत्कालीन भारत की दुर्दशा की जड़ पहचान ली, वह थी यहाँ की शासन और उससे सम्बद्ध शिक्षा, आर्थिक, स्वास्थ्य एवं अन्य व्यवस्थाएं। मूल में थी शासन व्यवस्था। उनके प्रेरणादायी नेतृत्व में संचालित स्वतंत्रता संग्राम का लक्ष्य यही था – शासन व्यवस्था परिवर्त्तन, अंग्रेजों को भारत से भगाना उनके लक्ष्य का अंग नहीं था। वे मानते थे कि जो अंग्रेज भारत में हैं, उसी व्यवस्था के चलते हैं। परिवर्त्तित शासन व्यवस्था में उनका यहाँ रहना, नहीं रहना अर्थहीन हो जाएगा। ''अंग्रेजों – भारत छोड़ो'' का नारा, उन्होंने तब दिया जब वे आश्वस्त हो गए कि उसी शासन व्यवस्था को कायम रखने में ही उनका निहित स्वार्थ है, जब तक वह व्यवस्था रहेगी वे रहेंगे और जब तक वे रहेंगे शासन व्यवस्था भी वही रहेगी। शासन व्यवस्था परिवर्त्तन के गाँधी जी के लक्ष्य में भारत की राजनैतिक स्वतंत्रता एक आवश्यक शर्त बन गई, एक पड़ाव बन गया। उनकी दृष्टि में लक्ष्य वही रहा – शासन व्यवस्था परिवर्त्तन। भारत का यह दुर्भाग्य रहा कि गाँधी जी की इस दूरदृष्टि, दिव्यदृष्टि में उनके शीर्ष अनुयायियों की पूर्ण आस्था नहीं थी। फल यह हुआ कि राजनैतिक स्वतंत्रता के पड़ाव पर आकर हम आगे के रास्ते से भटक गए, उसे भूल गए, पड़ाव को ही अपना गंतव्य समझ लिया। राजनैतिक स्वतंत्रता देकर अंग्रेज तो चले गए, लेकिन निवर्तमान ब्रिटिश शासकों के षडयंत्र, उस शासन व्यवस्था से लाभान्वित भारत के कुछ वर्गों का निहित स्वार्थ और गाँधी जी के शीर्ष अनुयायियों में उनकी दूरदृष्टि में अपूर्ण आस्था के दुर्योग से शासन व्यवस्था मूलतः वही रही जो औपनिवेशिक शासन में थी, जिसका उद्देश्य और आधार था शासित का शोषण और नैतिक पतन। अतः राजनीति में नैतिकता का ह्रास, भ्रष्टाचार, व्यापक गरीबी और गरीबी–अमीरी की बढ़ती खाई और सामाजिक अशांति और अंतर्विद्रोह जैसी भारत की विकराल से विकरालतर होती समस्याएं और विकृतियां वर्त्तमान शासन व्यवस्था की ही देन है। व्यक्ति बदलने, या व्यक्ति को बदलने, कानून बदलने या प्रशासनिक प्रक्रियाओं को बदलने से इन समस्याओं का निराकरण असंभव है, सिर्फ ख्याली पुलाव है। वर्त्तमान शासन व्यवस्था में ऐसे लाखों करोड़ों उदाहरण हैं जहाँ एक चरित्रवान व्यक्ति इस व्यवस्था में आकर या इस व्यवस्था से अन्य प्रकार से सम्बद्ध होकर चरित्रहीन या भ्रष्ट हो गया; या जो सरकार से सम्बद्ध कार्यों में भ्रष्टता के हर हथकंडे अपनाता हो, लेकिन सामाजिक, धार्मिक या सरकार से असम्बद्ध अन्य गतिविधियों में उच्च स्तर की नैतिकता का परिचय देता है। यह आम अनुभव की बात है भारत में व्यापारी वर्ग के लोग दो प्रकार की लेखा रखते हैं, एक नंबर और दो नंबर, एक जो सच और वास्तविक है और दूसरा झूठ और बनावटी है, लेकिन अपने पारिवारिक, सामाजिक या सरकार से असम्बद्ध अन्य क्षेत्रों में उनका व्यवहार उच्च नैतिकता का परिचायक है। भारतीय गणतंत्र के छः दशकों से ज्यादा का अनुभव यही है। जो विकृतियां व्यवस्था से जन्म लेती हैं और पोषित होती हैं, उन्हें उसी व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति या कानून बदलकर दूर नहीं की सकती। संभवतः विकृतियों का स्वरूप बदल जाए या विकृतियां और भी विकृत हो जाए। व्यवस्था परिवर्त्तन ही इनका सफल समाधान है। ●

राष्ट्रीय जीवन में अघोषित शोषण के आयाम

डी0 एम0 दिवाकर

समाज में आज बुनियादी सुविधाओं की आकांक्षायें जगी हैं, कुछ की सहमति बनी हैं जिनमें से कुछ को सांवैधानिक प्रावधानों में भी शामिल किया गया है, किन्तु उनके अनुपालन की चुनौतियां बनी हुई है। इससे व्यवस्थाजन्य अघोषित शोषण के अनेक आयाम दाखिल हुए हैं। यदि अघोषित शोषण के आयाम को रेखांकित करना हो तो उसे आार्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में चिह्नित किया जा सकता है। प्रस्तुत आलेख में अघोषित शोषण के कुछ आयामों की संक्षिप्त चर्चा का मर्यादित प्रयास किया गया है।

दुनिया का इतिहास साक्ष्यों से भरा पड़ा है कि जिनका संसाधनों पर कब्जा रहा है, वे अपनी सुविधा के लिए आचार संहिता और नियम बनाए हैं। वंचितों के प्रतिरोध का इतिहास भी समृद्ध एवं गौरवशाली रहा है जिनके संघर्षों ने शोषण के आयामों को पहचाना और उनके खिलाफ संगठित होकर लड़ाइयां लड़ीं । वंचितों के सामाजिक संघर्षों ने मानवीय गौरव के मूल्यों को स्थापित करने में उल्लेखनीय भूमिका निभायी है।

फ्रांसीसी क्रांति ने स्वाधीनता, समानता, एवं बंधुत्व के मूल्य को सर्वव्यापी बनाया। इन मूल्यों की लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि दुनिया के सभी देशों ने इन मूल्यों का स्वागत किया। कार्ल मार्क्स के विचारों को अपनाकर लेनिन ने सोवियत क्रांति और मेहनतकशों की सत्ता का इतिहास रचा। माआत्सेतुंग ने चीनी क्रांति का नेतृत्व किया तो हो ची मिन्ह ने वियतनाम को आजाद रखने की लड़ाई लड़ी। शहीद–ए–आजम भगत सिंह, अम्बेदकर, गांधी, खान अब्दुल गफार खान, मार्टिन लूथर किंग, नेल्सन मंडेला, आदि ने औपनिवेशिक शोषण एवं रंगभेद के विरूद्ध लड़ाइयां लड़ीं और शोषण से मुक्ति दिलाई। स्वाधीनता, समता, और बंधुत्व के आधार पर आजादी की नई इबारत लिखी गई। शोषणमुक्त समाज रचना का आदर्श गढ़ा और उनको हासिल करने के लिए राजनीतिक प्रक्रिया और अनुशासन का प्रयोग किया जिससे लोगों को मुक्ति का औजार मिला। चारू मजुमदार ने नक्सलबाड़ी, खोड़ाबाड़ी एवं हिसिदाबाड़ी से खेतिहर मजदूर किसान समाज की मुक्ति के लिए सघर्ष को क्रान्तिकारी नेतृत्व दिया जिसने आज पूरे देश में शोषण के खिलाफ व्यापक जनप्रतिरोध का आधार तैयार किया है। उदारवादी लोकतंत्र के समर्थक लोहिया और लोकनायक जयप्रकाश ने शोषण के आयामों का उदारवादी दृष्टि से विश्लेषण किया और उदारवादी लोकतंत्र को नया अर्थ दिया।

सामाजिक सत्ता के नए संस्करणों में राष्ट्र राज्य का उदय होने के साथ कल्याणकारी राज्य की संस्थाओं एवं अभिकरणों का आविर्भाव हुआ। प्रयोग और चेतना के विस्तार से लोगों को शोषण के नए मायने भी समझ में आए। पहले और दूसरे विश्वयुद्ध में विश्व की राजनीतिक संस्थाओं का वित्तीय संस्थाओं से मेल के संस्करण ने हिन्दुस्तान में भी नया राजनीतिक क्षितिज तैयार किया। हिंदुस्तान को औपचारिक आजादी मिली जिससे जन साधारण की उम्मीदें जगीं। देश का संविधान बना, जीने के मौलिक अधिकारों के साथ बिना किसी भेदभाव के सभी को समान अवसर उपलब्ध कराने का संकल्प लिया गया। आार्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में समान अवसर उपलब्ध कराने के लिए अनेक नीतियां बनीं। जीवन को बेहतर बनाने के लिए अनेक योजनाएं बनीं। इस तरह व्यक्त शोषण से मुक्ति के प्रयास हुए लेकिन अव्यक्त शोषण का सिलसिला बदस्तूर जारी रहा।

आर्थिक क्षेत्र में व्यक्त शोषण के आयामों का सीधा संबंध अवसर की उपलब्धता के ज्ञान से है। उदाहरण के लिए यदि एक से अधिक रोजगार का अवसर उपलब्ध हो तो समान योग्यता की स्थिति में समान काम के लिए कम मजदूरी मिलना, असंगठित क्षेत्र में पुरूष और महिला की मजदूरी में अंतर, बाल मजदूरों का उपयोग, बेगार, आदि अनेक उदाहरण हो सकते हैं जो अपेक्षाकृत कम मजदूरी मिलने पर शोषण का प्रत्यक्ष अनुभव आसानी से कराते हैं। अवसर का ज्ञान होने के

साथ शोषण से मुक्त होने का प्रयास करना स्वाभाविक होता है। जबकि अव्यक्त शोषण व्यवस्था में निहित होता है। देखने में यह गैर–आर्थिक या राजनीतिक भी हो सकता है।

संवैधानिक आदेयता आधारित वंचनाएं अव्यक्त शोषण के दायरे में आ सकती हैं जिन्हें मुहैया कराने की बुनियादी जिम्मेदारी लोकतांत्रिक सरकारों की होती है। उदाहरण के लिए जीने के मौलिक अधिकार के दायरे में जीवन की बुनियादी जरूरतों को सुनिश्चित कराने की जिम्मेदारी चुनी हुई लोकतांत्रिक सरकारों की होती है। भोजन, पानी, वस्त्र, आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य, आदि उपलब्ध कराने हेतु संवैधानिक प्रावधानों एवं वितरणी न्याय सुनिश्चित करने हेतु प्रशासनिक एवं वितरणी सेवाओं का ढांचा विकसित करने की जिम्मेदारी सरकारों की होती है। संवैधानिक अधिकारिता के बावजूद राशन कार्ड के लिए अनुचित उगाही, राशन का समय से नहीं मिलना, जीने के लिए भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की बुनियादी जरूरतों का पूरा नहीं होना मेरी राय में संवैधानिक गैरजवाबदेही है। इन्हें पूरा करने में किसी प्रकार की उदासीनता अघोषित शोषण के दायरे में आती है। मसलन, यदि संवैधानिक आदेयता के बावजूद उन सुविधाओं के लिए व्यवस्था में कमी है और अनकी पूर्ति के लिये प्रयास के बावजूद असफल रहना अघोषित शोषण है।

राजनीतिक क्षेत्र में भी अघोषित शोषण के अनेक आयाम देखे जा सकते हैं। हिंदुस्तान में संविधानतः प्रत्येक वयस्क नागरिक को मताधिकार प्राप्त है किंतु नागरिक साक्ष्य के प्रावधान की व्यवस्था के अधीन समुचित दस्तावेज के अभाव में मताधिकार का प्रयोग करना सम्भव नहीं होता। यद्यपि इसमें मतदाता तक दस्तावेजों को उपलब्ध कराने की जिम्मेदारी शासन व्यवस्था की होती है। साथ ही नागरिक साक्ष्य का संबंध जीवन की अन्य सुविधाओं से जुड़े होने से उनसे भी अक्सर वंचित होना पड़ता है। हाल में शौचालय की सुविधा को चुनाव में उम्मीदवारी से जोड़ा गया है जिससे गरीबों के पास अमूमन यह सुविधा नहीं होने से वे पंचायत चुनाव के उम्मीदवार होने से वंचित होंगे जबकि निर्मल भारत अभियान के तहत सभी परिवार को यह सुविधा मिलनी चाहिए। इस प्रकार व्यवस्थाजन्य कमी अघोषित आयामों से जुड़ती जाती है।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में अधोषित शोषण का दायरा और भी गहरा है। राजनीतिक एवं संवैधानिक व्यवस्था से यद्यपि सामाजिक क्षेत्र में छुआछूत और भेदभाव सामान्यतः अब अपराध की श्रेणी में आते हैं। चेतना विस्तार के साथ एक सीमा तक ये कम भी हुए हैं । लेकिन अभी भी यह अमानवीयता के स्तर तक प्रचलन में है। यह समाज के अलिखित नियमों से संचालित होता है। सामाजिक कार्य, उत्सव, त्योहार आदि में विशेष रूप से देखने को मिलता है। कई राज्यों में तो यह दर्दनाक है। सिर पर मैला ढ़ोना, खाप पंचायत आदि कुछ वीभत्स उदाहरण हो सकते हैं।

राज्य दंड व्यवस्था एवं न्यायिक प्रक्रिया में भी अघोषित शोषण के आयामों को पहचाना जा सकता है। संवैधानिक दायरे में कानून को अपने हाथ में लेना या कानून की सेवा से दूर करना एक बड़ी चुनौती है। पुलिस प्रशासन एवं न्यायालय को इसकी जिम्मेदारी भी दी गई है। एक सीमा तक सफलता भी मिली है लेकिन ये व्यवस्थायें निष्पक्ष हों इसके लिये प्रभुत्व के दबाव से इनका मुक्त होना जरूरी है, किंतु आज भी यह एक गंभीर चुनौती है। पीड़ितों की प्राथमिकी थाने में दर्ज नहीं होना, दोषी दबंगों का बेखौफ खुला घूमना आज भी वदस्तूर जारी है। भ्रष्टाचार की कोढ़ ने इसे भी निष्प्रभावी बना दिया है। न्यायालयों में सुनवाई की व्यवस्था है जहां से न्याय की उम्मीद की जाती है। कुछ हद तक यह संभव होता भी है, किंतु जजों की कमी, साक्ष्य की प्रभुत्वपरक व्याख्या, निर्णय में देरी, महंगी न्याय व्यवस्था, सत्तापक्षीय रूझान आदि अनेक कारणों से हिंदुस्तान के प्रथम नागरिक को यह कहने के लिए बाध्य कर देता है कि न्यायालय को गरीब तक पहुंचाने की गंभीर चुनौतियां हैं।

इस प्रकार अघोषित शोषण का सीधा संबंध प्रगति की सामाजिक चेतना, आर्थिक विकास का स्वरूप, राजनैतिक एवं न्यायिक व्यवस्था से है। इन शोषणों से मुक्ति के लिए समाज में सजग परिवर्तनकामी ताकतों को एकजुट होकर संवैधानिक व्यवस्था में जनहित का संघर्ष तेज करना एक विकल्प हो सकता है। यद्यपि यह ध्यान रखने की जरूरत है कि संविधान नागरिक समाज की सुविधा के लिए बनाया गया है। साथ ही यह नमनीय है। अतः समय–समय पर इसमें संशोधन भी हुआ है, किंतु व्यवस्था में न्याय पक्षधरता की कमी से प्रावधानों को लागू करने के बजाय भ्रष्टाचार अपनी जगह बनाता रहा है।

गांधी जी की स्पष्ट राय थी कि सुविचारित ढंग से यदि यह लगे कि नियम और कानून जनहित में कार्य नहीं कर रहा है तो उसे बदल देने में ही भलाई है। अतः संवैधानिक दायरा उस परिस्थिति में बाध्यकारी नहीं हो सकता है। लोकनायक जयप्रकाश ने व्यवस्था परिवर्तन का संघर्ष किया किंतु वह समाज परिवर्तन का आंशिक वाहक ही बन सका। जरूरत है गरीब पक्षीय व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई को तेज करने की। बिना लड़े शोषण मुक्त समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। ●

(लेखक अनुग्रह नारायण सिंह समाज अध्ययन संस्थान, पटना के निदेशक हैं)

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में लोकतंत्र

ऐसा कहा जाता रहा है कि भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है और ये दोनों देश, अमेरिका और भारत, समान रूप से लोकतांत्रिक मूल्यों में आस्था रखते हैं। लेकिन दोनों देशों के लोकतंत्रों की यदि तुलनात्मक समीक्षा की जाए तो हम पाएंगे कि उनमें आसमान–जमीन का अंतर है। लोकतंत्र का एक मानक है कि शासन कितना विकेन्द्रित है। जहाँ 120 करोड़ की आबादी वाले भारत के लोगों के जीवन से संबंधित विभिन्न कार्यों एवं समस्याओं का प्रबंधन 29 सरकारों – 1 केन्द्र सरकार और 28 राज्य सरकारें – द्वारा किया जाता है, वहीं 32 करोड़ आबादी वाले अमेरिका में वहां के लोगों से सम्बंधित कार्यों और समस्याओं के प्रबंधन के लिए वहाँ की 87,000 से अधिक (एक संघीय, 50 राज्य और शेष स्थानीय और विशेष उद्देशीय सरकारें यथा विद्यालय प्रबंधन) लोक निर्वाचित सरकारें कार्यरत हैं।

विश्व के देशों में विभिन्न ढाँचों की सरकारें चलती हैं। कहीं राजतंत्र है, जैसा कि कुछ वर्षों पूर्व नेपाल में था जहाँ वंशानुगत राजा कार्यकारी सरकारी शक्ति के साथ सरकार के शीर्ष पर रहता है; कहीं संवैधानिक राजतंत्र है जहाँ वंशानुगत राजा सांकेतिक रूप से सरकार के शीर्ष पर है लेकिन कार्यकारी सरकार का गठन जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा होता है,जैसा ब्रिटेन में है ; कहीं गणतंत्र है जिसका शीर्ष व्यक्ति राष्ट्रपति कहा जाता है – फिर राष्ट्रपति कार्यकारी रूप से सरकार के शीर्ष पर है, जैसा अमेरिका में है या राष्ट्रपति कुछ सीमित दायित्वों के साथ सिर्फ औपचारिक रूप से राष्ट्र–राज्य का अध्यक्ष होता है लेकिन कार्यकारी सरकार का गठन जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है, जैसे भारत में; कहीं एक दलीय शासन है जहां किसी विचारधारा पर आधारित एक दल के पदाधिकारी उस दल के संविधान के अनुसार निर्वाचित होते हैं और यही पदाधिकारी सरकार के मुखिया और अन्य पदाधिकारी होते हैं, जैसे चीन में या पूर्व के दिनों में सोवियत रूस में; कहीं एक परिवार द्वारा नियंत्रित एक पार्टी का ही मुखिया शासन के शीर्ष पर बतौर अधिनायक है, जैसे उत्तर कोरिया में और कहीं उस देश की सेना द्वारा ही सत्ता संचालित होती है जिसमें सेनाध्यक्ष ही औपचारिक या अनौपचारिक रूप से राष्ट्राध्यक्ष होता है जैसे कुछ वर्षों पूर्व पाकिस्तान में था और संप्रति मिश्र में है। इन देशों का औपचारिक नाम विभिन्न प्रकार से दर्शाया जाता है जैसे भारत को औपचारिक रूप से भारतीय गणतंत्र, पाकिस्तान को पाकिस्तानी इस्लामी गणतंत्र, चीन को चीनी जन गणतंत्र, थाइलैंड को 'शाही थाइलैंड सरकार'' इत्यादि। इन औपचारिक नामों से उन देशों में किस प्रकार की सरकार है, इसका कुछ संकेत मिलता है। लेकिन उन देशों में सैद्धांतिक रूप में और वास्तविक रूप में लोकतंत्र कितना है और कैसा है, इसका कोई ज्ञान नहीं होता। जैसे उत्तर कोरिया औपचारिक रूप से अपने को ''कोरियायी लोकतांत्रिक जन गणतंत्र'' के नाम से घोषित करता है लेकिन जगजाहिर है कि वहाँ की सरकार में लोकतंत्र बहुत सीमित है, अभी तक एक ही परिवार का वंशानुगत रूप से राष्ट्राध्यक्ष होता रहा है और यह सरकार सिर्फ उत्तर कोरिया तक ही सीमित है, दक्षिण कोरिया की अलग सरकार है जिसका औपचारिक नाम ''कोरियायी गणतंत्र'' है।

जिस तरह राष्ट्रों के औपचारिक नाम से उस देश में लोकतंत्र की स्थिति का पूरा ज्ञान नहीं होता, उसी तरह किसी देश में लोकतंत्र है या लोकतांत्रिक सरकार है, ऐसा कहने से या औपचारिक घोषणा करने से उस देश में

वास्तविक रूप में लोकतंत्र है या नहीं, कितना और किस रूप में लोकतंत्र है, इसका संकेत या ज्ञान नहीं मिलता है। इस पत्रिका के इसी अंक में भारतीय गणतंत्र के लोकतत्र, औपचारिक रूप से जिसे संसदीय लोकतंत्र कहा जाता है, की विवेचना की गई है और दर्शाया गया है कि यहाँ का लोकतंत्र वास्तव में कितना सीमित और विकृत है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भी लोकतंत्र के संबंध में बहुत मिथ्याचार है। आदर्श लोकतंत्र का माप यो यही है कि उस देश की सरकार या सरकारों के गठन में जनता की कितनी भूमिका है और वैसे विषयों में, जिनका सीधा संबंध जनजीवन से है, निर्णय लेने की प्रक्रिया में सम्बंद्ध जनता की कितनी प्रभावकारी भागीदारी है। निर्धारित अंतराल पर चुनाव कर सरकार का गठन लोकतंत्र की एक आवश्यक शर्त है, लेकिन पर्याप्त नहीं। अमेरिका जैसा समृद्ध और लोकतांत्रिक राष्ट्र लोकतंत्र की बार–बार दुहाई देता है और अपनी विदेश नीति में घोषणा करता है कि जिस देश में लोकतंत्र नहीं उसे वह कोई सहायता नहीं करेगा और वैसे देश में लोकतंत्र लाने तथा स्थापित करने के लिए कोई विरोध का स्वर उभरता है और कोई गुट वहाँ स्थापित अलोकतांत्रिक सरकार के विरूद्ध आंदोलित होता है तो वह उसका समर्थन करेगा और उसे हर तरह से सहायता देगा। सतही तौर पर लोकतंत्र के पक्ष में अमेरिका की यह विदेश नीति तो सराहनीय है। लेकिन इस घोषित विदेश नीति में उस देश में कितना और कैसा लोकतंत्र है, उसके अपने ही देश में लोकतंत्र का जो मानक है उसकी तुलना में उस देश का स्थापित या लक्षित लोकतंत्र कहाँ है इसके प्रति अमेरिका की उदासीनता उसकी विदेश नीति के गुण और नैतिकता को संदेहास्पद कर देता है। उदाहरण के लिए अमेरिका द्वारा भारत को समर्थन एवं सहायता देने का घोषित रूप से एक प्रमुख कारण है कि भारत एक लोकतांत्रिक देश है। ऐसा कहा जाता रहा है कि भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है और ये दोनों देश, अमेरिका और भारत, समान रूप से लोकतांत्रिक मूल्यों में आस्था रखते हैं। लेकिन दोनों देशों के लोकतंत्रों की यदि तुलनात्मक समीक्षा की जाए तो हम पाएंगे कि उनमें आसमान–जमीन का अंतर है। लोकतंत्र का एक मानक है कि शासन कितना विकेन्द्रित है। जहाँ 120 करोड़ की आबादी वाले भारत के लोगों के जीवन से संबंधित विभिन्न कार्यों एवं समस्याओं का प्रबंधन 29 सरकारों – 1 केन्द्र सरकार और 28 राज्य सरकारें – द्वारा किया जाता है, वहीं 32 करोड़ आबादी वाले अमेरिका में वहां के लोगों से सम्बंधित कार्यों और समस्याओं के प्रबंधन के लिए वहाँ की 87,000 से अधिक (एक संघीय, 50 राज्य और शेष स्थानीय अैर विशेष उद्देशीय सरकारें यथा विद्यालय प्रबंधन) लोक निर्वाचित सरकारें कार्यरत हैं। जिस तरह से जीवन स्तर का मानक अमेरिका अपने देश और अन्य देशों के लिए अलग–अलग मानता है, उसी तरह वह अपने देश और अन्य देशों के लोकतंत्र के लिए अलग–अलग मानकों का व्यवहार करता है। कभी–कभी तो लगता है कि किसी देश में लोकतंत्र हो और उस देश के वासियों को लोकतंत्र के वास्तविक अधिकार और उनके अनुरूप लोकतांत्रिक सुविधाएं सुलभ हो, जैसा कि उसके अपने देश में है, इसमें अमेरिका की कोई प्रतिबद्धता या दिलचस्पी नहीं है। उसके लिए ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि वहाँ की सरकार का उसके अपने हितों के प्रति क्या रवैया है। यदि किसी देश से अच्छा संबंध रखने में उसके राष्ट्रीय हित सधते हैं, तो उसकी यह चिंता नहीं है कि उस देश में लोकतंत्र है, राजतंत्र है या अधिनायकतंत्र है। जिस तरह भारतीय राजनीति में धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद, आर्थिक उदारीकरण या क्षेत्रीय समस्याओं के नाम पर विशुद्ध सत्ता की या सत्ता के लिए राजनीति की जाती है, राजनीतिक दलों को उन मुद्दों के प्रति कोई विशेष प्रतिबद्धता नहीं रहती, उसी तरह अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लोकतंत्र के नाम पर अपने आर्थिक, वाणिज्यिक अथवा सामरिक हितों के लिए वैश्विक राजनीति संचालित होती है या राष्ट्रों का ध्रुवीकरण होता है। यहाँ तक कि लोकतंत्र की सुरक्षा के नाम पर विश्वयुद्ध तक हुए हैं। लेकिन किसके लिए लोकतंत्र, कितना लोकतंत्र और कैसा लोकतंत्र –लोकतंत्र की दुहाई देने वाले या इस आधार पर ध्रुवीकरण करने वाले राष्ट्रों में इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर घोर चुप्पी और उदासीनता है।

चूँकि जीवन–स्तर और लोकतंत्र के मानकों में अन्योन्याश्र का संबंध है, लोकतंत्र के इस विभेदीय मानकों पर अमेरिका ही नहीं, विश्व के अन्य देशों को भी गौर फरमाना चाहिए। ●

भारतीय शासन व्यवस्था परिवर्त्तन अभियान की वैचारिक रूपरेखा

भारतीय शासन व्यवस्था परिवर्त्तन अभियान की वैचारिक रूपरेखा देश की वर्त्तमान स्थिति, समस्याएं और विकृतियां, उनका ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विश्लेषण, उस पर आधारित निदान, उसे जमीन पर उतारने की मार्गदर्शिका और निदानित भारत के स्वरूप की भविष्यदृष्टि पर आधारित है, जिसका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है।

1. वर्त्तमान स्थिति, समस्याओं और विकृतियों पर विहंगम दृष्टि:

देश की राजनीति में नैतिकता का घोर पतन

सरकार और जनजीवन में भ्रष्टाचार

भारतीय समाज में व्याप्त गरीबी और गरीब–अमीर की बढ़ती खाई

बढ़ती हुई सामाजिक अशांति, अलगाववाद और अंतर्विद्रोह

2. देश की वर्त्तमान स्थिति, समस्याओं और विकृतियों का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विश्लेषण:

हालांकि देश की कुछ विकृतियां स्वतंत्रता के पहले औपनिवेशिक शासनकाल में भी थी, यथा गरीबी और भ्रष्टाचार, उपर्युक्त सभी समस्याएं और विकृतियां देश की स्वतंत्रता और गणतंत्रता के बाद से तीव्रता और व्यापकता दोनों रूप से बढ़ती गई हैं, चाहे जो भी दल सत्ता में रहा हो, या जो भी नेता सरकार के मुखिया रहे हों और चाहे उनसे निबटने के लिए जो भी कानून बनाए गए हों। सभी समयावधियों – स्वतंत्रता पूर्व, स्वतंत्रता के बाद और गणतंत्रता के बाद – में एक बात जो अविछिन्न और मूलरूप से सदा वर्त्तमान रही वह थी देश की शासन व्यवस्था जिसकी मुख्य विशेषता है कि राजकीय शक्ति ऊपर से नीचे प्रवाहित होती है।

महात्मा गाँधी जब दक्षिण अफ्रीका के अपने प्रवास के बाद भारत लौटे, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लेने के पहले वे देश के विभिन्न भागों और विशेषतया गाँवों में घूमे, भारत की दयनीय स्थिति से रू–ब–रू हुए और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उस देश, जो पहले आत्मनिर्भर और खुशहाल था, को इस दयनीय स्थिति में लाने में औपनिवेशिक शासकों द्वारा भारत पर थोपी गई शासन व्यवस्था जिम्मेवार है। अतः इस शासन व्यवस्था को हटाना और इसके स्थान पर एक ऐसी विकेन्द्रीकृत शासन व्यवस्था स्थापित करना जिसमें हर गाँव की अपनी स्वायत्त सरकार हो यानी ग्राम गणतंत्र हो, उनके नेतृत्व में संचालित स्वतंत्रता संग्राम का लक्ष्य हो गया। उनकी दृष्टि में इसके लिए देश की राजनीतिक स्वतंत्रता एक आवश्यक शर्त थी, लक्ष्य नहीं।

राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने के लिए भारत के संविधान निर्माण में महात्मा गांधी और उनके विचार को सर्वथा गौण कर दिया गया। तत्कालीन परिस्थितियों और कुछ वर्गों के निहित स्वार्थों के षड़यंत्र और दुर्योग से संविधान की प्रस्तावना में जनता की आकांक्षाओं और अपेक्षाओं को तो बखूबी व्यक्त किया गया लेकिन उन्हें जमीन पर उतारने के लिए मूलतः वही शासन व्यवस्था अपना ली गई जो औपनिवेशिक भारत में थी।

गणतंत्र भारत की छः दशकों से अधिक की यात्रा के बाद भारत की वर्त्तमान स्थिति निस्संदेह रूप से सिद्ध करती है कि वर्त्तमान शासन व्यवस्था लोगों की आकांक्षाओं और अपेक्षाओं को पूरा करने में सर्वथा अनुपयुक्त और अक्षम है।

3. देश की समस्याओं और विकृतियों का निराकरण

उपर्युक्त विश्लेषण से यह सुस्पष्ट है कि भारत की समस्याओं का एक मात्र निदान है भारत की वर्त्तमान शासन व्यवस्था को परिवर्त्तित कर दुनिया के सफल लोकतंत्रों में सफलता पूर्वक चलने वाली शासन व्यवस्थाओं के अनुभव से लाभ लेते हुए स्वतंत्र भारत के लिए एक ऐसी विकेन्द्रीकृत शासन व्यवस्था स्थापित करना जिसकी वकालत महात्मा गांधी ने अपने जीवन के आखिरी दिनों तक की थी।

4. अपेक्षित परिवर्त्तन लाने का रास्ता :

भारत की वर्त्तमान शासन व्यवस्था हमारे संविधान में वर्णित

है।

इस व्यवस्था को बदल कर नई शासन व्यवस्था स्थापित करने के लिए संविधान में तदनुरूप संशोधन अनिवार्य है।

संविधान में ऐसे संशोधन के लिए हमारे देश की संसद सक्षम है जिसके लिए कुल निर्धारित सदस्यों के बहुमत या संसद में उपस्थित और वोटिंग करने वाले सदस्यों का दो–तिहाई बहुमत आवश्यक है।

भारतीय शासन व्यवस्था परिवर्त्तन अभियान दो चरणों में सम्पादित करना है। पहले चरण में इस अभियान और इसके वैचारिक रूपरेखा से जनता को जागृत और शिक्षित करना है और उन्हें नागरिक के रूप में इसमें अपनी भूमिका निभाने के लिए अभिप्रेरित करना है। अभियान के दूसरे चरण में इसके लिए आवश्यक राजनीतिक कार्यकलाप सम्पादित करना है, जिसमें इस अभियान के लिए समर्पित और प्रतिबद्ध एक दल का गठन, अभिप्रेरित और उत्साहित जनता की सहभागिता से चुनावी प्रक्रिया में भाग लेकर संसद में भारी बहुमत से आना, आवश्यक संसदीय प्रक्रिया से संविधान संशोधित करना और संशोधित संविधान के तहत विधायी और प्रशासनिक कार्यों द्वारा देश में परिवर्त्तित शासन व्यवस्था स्थापित करना शामिल है। इस तरह से संवैधानिक तरीकों से देश में एक क्रांतिकारी परिवर्त्तन सम्पादित होगा। इस क्रांति की संभावित सफलता का सूत्र है भारत के लोगों की सूझबूझ की अनोखी क्षमता जिसका परिचय भारत के इतिहास में कई अवसरों पर मिला है। आधुनिक भारत में भी हमारे स्वतंत्रता संग्राम और स्वतंत्र भारत में कई अवसरों पर ऐसी जनता की भागीदारी से देश में अभूतपूर्व परिवर्त्तन हुआ है।

5.परिवर्त्तित शासन व्यवस्था में भारत का स्वरूप :

परिवर्त्तित शासन व्यवस्था में देश का कायाकल्प हो जाएगा, जिसकी झलक निम्नलिखित बातों से मिलेगी।

भारतीय राजनीति का स्वरूप बदल जाएगा जिससे राजनीति में विचारवान और चरित्रवान व्यक्ति आकर्षित होंगे।

भारत में व्याप्त भ्रष्टाचार का 90 से 95 स्वतः समाप्त हो जाएगा।

भारत में विकास की धारा गाँवों से प्रस्फुटित होगी, भारत की अर्थव्यवस्था की संरचना बदल जाएगी, गरीबी धीरे–धीरे लेकिन निश्चित रूप से कम होती जाएगी, आर्थिक असमानता काफी हद तक कम हो जाएगी और देश में समावेशी विकास सुनिश्चित हो जाएगा।

इस व्यवस्था में नक्सलपंथ आधारहीन हो जाएगा, अलग राज्यों की माँग सरीखी अलगाववादी प्रवृत्तियां अर्थहीन हो जाएंगी और देश में अंतर्विद्रोह पनप ही नहीं सकेगा।

विश्व के राष्ट्रों में भारत की प्रतिष्ठा पुनर्स्थापित हो जाएगी और हिंसा, उग्रवाद, आतंकवाद और असमानता से ग्रस्त विश्व फिर ज्ञान और शांति संदेश के लिए भारत की ओर उन्मुख होगा। ●

भारत के हर नागरिक से अपील

- भारतीय शासन व्यवस्था परिवर्तन के अभियान को आप समझें।
- इसके लिए आप राष्ट्रीय कायाकल्प, भारतीय शासन व्यवस्था परिवर्तन मंच के वेबसाइट और ब्लॉग का इस्तेमाल कर सकते हैं।
- संस्था का सदस्य बनकर इसके विभिन्न कार्यों में सहयोग करें।
- आर्थिक सहयोग कर राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम को आगे बढ़ाने में सहयोग करें।

भारतीय शासन व्यवस्था परिवर्तन विचार मंच

173 बी श्रीकृष्णपुरी, पटना 800001

टेलीफोन : 0612–2541276 ईमेलः rashtriyakayakalp@gmail.com

प्रश्नोत्तर के माध्यम से

शासन व्यवस्था परिवर्तन के इस

अभियान को समझना

प्र. 1 इस अभियान का उद्देश्य क्या है?

उ. भारत की वर्त्तमान शासन व्यवस्था का परिवर्त्तन कर अपेक्षित शासन व्यवस्था लाना इस अगियान का उद्देश्य है।

प्र. 2 भारत की वर्त्तमान शासन व्यवस्था का परिवर्त्तन क्यों अनिवार्य है?

उ. संसाधनों से समृद्ध एक उपनिवेश के शोषण के लिए अंग्रेजों ने इस शासन व्यवस्था की परिकल्पना और संरचना की थी। यह शोषण दीर्घकालीन और व्यवस्थित रूप से हो, इसके लिए यह आवश्यक था कि शासन व्यवस्था शोषण कुशलता के अलावा एक उच्च सभ्यता और संस्कृति संपन्न शासित जनता का नैतिक पतन भी सुनिश्चित कर सके। स्वतंत्र भारत की वर्त्तमान शासन व्यवस्था मूलतः वही व्यवस्था है। देश में सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार, गरीबी और गरीब–अमीर की बढ़ती खाई, सामाजिक अशांति और अन्तर्विद्रोह तथा राजनीति का उत्तरोत्तर नैतिक पतन इसी शासन व्यवस्था की उपज है। इन बुराइयों और विकृतियों को हम बिना शासन व्यवस्था परिवर्त्तन के नहीं दूर कर सकते।

प्र. 3 क्या स्वतंत्रता आंदोलन के समय स्वतंत्र भारत में शासन व्यवस्था परिवर्त्तन ही आंदोलन का अंतिम लक्ष्य था?

उ. भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के अधिष्ठाता महात्मा गाँधी का स्पष्ट विचार था कि अंग्रेजों द्वारा भारत पर थोपी गई शासन व्यवस्था के फलस्वरूप ही देश का शोषण, इसकी बढ़ती गरीबी और लोगों का नैतिक पतन हो रहा है और जब तक इस शासन व्यवस्था को हटाया नहीं जाय, भारत इस तरह पतन की गर्त में जाते रहने को अभिशप्त रहेगा। अतः गाँधी के विचार में इस शासन व्यवस्था को हटाना ही भारत की स्वतंत्रता की प्राप्ति और उसके लिए आवश्यक संघर्ष स्वतंत्रता आंदोलन का उद्देश्य और प्रेरणा था। लेकिन स्वतंत्रता आंदोलन के क्रम में जब यह स्पष्ट हो गया कि इस शोषणकारी शासन व्यवस्था में ही अंग्रेजों का निहित स्वार्थ है तभी उन्होंने ''अंग्रेजों, भारत छोड़ो'' का ऐलान किया।

प्र. 4 तब फिर क्यों स्वतंत्र भारत में मूलतः वही शासन व्यवस्था अपना ली गई ?

उ. निवर्तमान ब्रिटिश सरकार और भारत के ऐसे वर्ग जो औपनिवेशिक शासन से लाभान्वित थे, जैसे ऊँचे नौकरशाह, सामंतवादी समुदाय, राजे–महाराजे तथा बड़े व्यापारिक परिवार, समझते थे कि उनका हित उसी शासन व्यवस्था में सुरक्षित एवं सम्पुष्टित रहेगा और अतः चाहते थे कि स्वतंत्र भारत में भी वही शासन व्यवस्था चलती रहे। ऐसे लाभान्वित वर्गों की मिलीभगत से निवर्तमान ब्रिटिश सरकार ने भारतीय संविधान सभा इस तरह से गठित की कि इसमें भारत के लाभान्वित एवं अभिजात्य वर्गों का बाहुल्य हो। स्वतंत्र भारत के समृद्ध भविष्य के लिए दूरदृष्टि रखने वाले महात्मा गाँधी के कुछ अनुयायी भी, जो स्वतंत्रता संग्राम में अग्रणी नेता थे, उनके बहुत से विचारों, विशेषतया स्वतंत्र भारत के लिए समुचित शासन व्यवस्था का स्वरूप, से पूर्णतः सहमत नहीं थे। ऐसे लोग प्रचलित शासन व्यवस्था से सुपरिचित ही नहीं, अभ्यस्त भी थे और उनकी सोच इससे भिन्न या इसके परे नहीं जाती थी। वे इसी व्यवस्था के भीतर और इसी के आधार पर स्वतंत्र भारत की आकांक्षाओं को फलीभूत करना चाहते थे। इन्हीं सब कारकों की दुरभिसंधि से भारत

को एक ऐसा संविधान मिला जों एक तरफ तो एक उदीयमान गणतंत्र में जनता की ऊँची आकांक्षाओं को बखूबी अभिव्यक्त करता है, तो दूसरी ओर उन आकाक्षाओं की पूर्ति के लिए एक घिसी–पिटी, सर्वथा अनुपयुक्त और विरोधाभासी शासनतंत्र को अपना लेता है। इस तरह से भारतीय संविधान सभा में भारतीय स्वतंत्रता के अधिष्ठाता गाँधी के प्रति विश्वासघात किया गया, स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने वाले और इसके लिए गाँधी के आह्वान पर अपना सर्वस्व बलिदान करने वाले करोड़ों भारतीयों को ठगा गया और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को ही, जो इसी शोषणकारी और नैतिक पतनपरक शासन व्यवस्था को हटाने के लिए ही था, नकार दिया गया।

प्र. 5 स्वतंत्र भारत के लिए कैसी शासन व्यवस्था गांधी जी चाहते थे एवं जिसके लिए वह जोरदार वकालत करते थे, और यह शासन व्यवस्था प्रचलित व्यवस्था से किस तरह भिन्न है?

उ. औपनिवेशिक शासन व्यवस्था, और मूलतः उसी पर आधारित वर्त्तमान शासन व्यवस्था, की अवधारणा है कि राजसत्ता पिरामिड की तरह ऊपर से नीचे की ओर चलती है। गाँधी जी के विचार में राजसत्ता व्यक्ति में केन्द्रित है, और जिस तरह किसी झील के शांत जल में पत्थर का एक टुकड़ा गिराने से उस केन्द्र से विभिन्न वृत्ताकार तरंगे उठती हैं, उसी तरह राजसत्ता व्यक्ति से निकल कर शासन के विभिन्न स्तरों, जैसे गाँव, राज्य और देश के शासन स्तरों पर फैलती है। इस अवधारणा में कोई शासन स्तर एक दूसरे से नीचे या ऊपर नहीं हैं। हर शासन स्तर का अपना कार्य और अधिकार क्षेत्र है और सभी शासन स्तर व्यक्ति के श्रोत से ही राजसत्ता पाता है। व्यावहारिक तौर पर, ग्राम सरकार, राज्य सरकार और राष्ट्रीय सरकारें होंगी। आधुनिक जीवन की जटिलताओं के आलोक में शासन के इस प्रमुख ढाँचे के तहत कुछ और शासन के स्तर हो सकते हैं। लेकिन शासन का कोई भी स्तर हो, वह राजसत्ता व्यक्ति के श्रोत से ही पाएगा। इस तरह, शासन व्यवस्था की इस अवधारणा में शासन पूर्णतः विकेन्द्रित होगा जबकि औपनिवेशिक और वर्त्तमान शासन व्यवस्था बहुत ही केन्द्रीकृत है।

इसी अवधारणा के संदर्भ में ही गाँधी जी ने स्वतंत्र भारत में प्राथमिक शासन स्तर पर ''ग्राम गणतंत्र'' की जोरदार वकालत की थी।

प्र. 6 क्या प्राथमिक शासन स्तर पर ''ग्राम गणतंत्रों'' के होने से विभिन्न स्वायत्त इकाइयों में अलगाववादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा तो नहीं मिलेगा और राष्ट्रीय सरकार उनसे निपटने में कमजोर या अक्षम तो नहीं हो जायेगी?

उ. ठीक इससे उल्टा। कोई जंजीर उतनी ही मजबूत होती है जितना उसकी सबसे कमजोर कड़ी। विभिन्न कारणों के संयोजन से कहा जा सकता है कि इस तरह की शासन व्यवस्था देश के भीतर या बाहर के विघटनकारी या अस्थिरता कारक तत्त्वों से निपटने में अधिक सक्षम होगी। जब गाँवों में ही स्वायत्त सरकारें होंगी, अन्तर्विद्रोह को पनपने या अपनी जकड़ बनाने की कोई संभावना ही नहीं रहेगी। सीमा पार से आने वाली आतंकवादी या अस्थिरता कारक तत्त्वों को शासनतंत्र की मजबूत इकाइयों का पहले सामना करना पड़ेगा जिससे देश के अंदर उनका घुसना बहुत ही कठिन हो जायेगा। फिर, जब लोगों के जीवन और जीने को सीधे तौर पर प्रभावित करने वाली समस्याओं का समाधान शक्ति सम्पन्न गाँवों की सरकारों द्वारा ही हो जायेगा, तो राष्ट्रीय सरकार अपना ध्यान और ऊर्जा राष्ट्रीय समस्याओं और मुद्दों पर ज्यादा केन्द्रित कर सकेगी। और फिर, सरकारें जब लोगों की प्रत्यक्ष पहुँच में होंगी, तो उनका अपने राज्य या केन्द्र सरकारों से असंतुष्ट होने का न्यूनतम अवसर होगा। एक प्रभावशाली संविधान से संपोषित लोगों की साझी संस्कृति और इतिहास सुदृढ़ राष्ट्रीय भावना को पैदा करने और कायम रखने में कारगर होगा और लोगों को एक सूत्र में बाँधे रखेगा।

प्र. 7 क्या ग्राम गणतंत्र आर्थिक रूप में संभव होगा?

उ. वर्त्तमान शासन व्यवस्था में, जबकि गाँवों में विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत केन्द्रीय और राज्य सरकारों से ही निधि आती है, लोगों के दिमाग में ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इस बात को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि मूल रूप से राष्ट्रीय संसाधनों यथा जमीन, पानी, जंगल, खनिज और मानव शक्ति, शारीरिक और मानसिक दोनों, से राष्ट्रीय धन पैदा होता है और सरकारी खजानों में मूलतः इसी धन पर सरकारों द्वारा लगाए विभिन्न करों से निधि आती है। यह भी समझना चाहिए कि विभिन्न मात्राओं में हर गाँव इन

संसाधनों से, जो धन पैदा करते हैं या कर सकते हैं, लैस है। शोषण और केन्द्रीयकरण पर आधारित वर्त्तमान शासन व्यवस्था में ऐसा लगता है कि सरकारी खजानों में करों के रूप में ज्यादातर धन शहरों और बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठानों से आता है। विकेन्द्रीकृत शासन व्यवस्था में जो आवश्यक रूप से शोषण और केन्द्रीकरण विहीन होगी, राजस्व वसूली व्यवस्था में ढ़ाँचागत परिवर्त्तन करने से प्रायः हर गाँव न सिर्फ आर्थिक रूप से स्वशासन के लिए आत्मनिर्भर होगा, बल्कि राज्य और राष्ट्रीय खजानों के लिए भी अपना अंशदान दे सकेगा जिससे ये सरकारें अपने उत्तरदायित्व और भूमिका निभा सकें।

प्र. 8 परिवर्त्तित शासन व्यवस्था में आज भारत में हर स्तर पर व्याप्त भ्रष्टाचार की क्या स्थिति रहेगी?

उ. शोषण और लोगों के नैतिक पतन पर आधारित वर्त्तमान शासन व्यवस्था , जो कि पिरामिड के ढाँचे में प्रशासनिक शक्तियों के केन्द्रीकरण द्वारा सुसाध्य होती है, भ्रष्टाचार को प्रोत्साहित ओर सम्पोषित करती है। परिवर्तित शासन व्यवस्था समस्तरीय ढांचे में होगी जिससे शासन भागीदारी वाला और विकेन्द्रीकृत होगा और जो शोषण और अनैतिकता से विहीन होगा। ऐसी शासन व्यवस्था में भ्रष्टाचार न पनपेगा, न टिकेगा। एक अनुमान है कि परिवर्त्तित शासन व्यवस्था में 90 से 95 वर्त्तमान भ्रष्टाचार अन्तर्धान हो जाएगा। इस व्यवस्था में भ्रष्टाचार एक अपवाद होगा, न कि एक प्रथा और यह व्यक्ति के नैतिक विपथगमन के चलते होगा न कि व्यवस्था द्वारा प्रोत्साहित करने और सुसाध्य बनाने से। यह इस बात से भी समझा जा सकता है कि तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने कहा था कि दिल्ली से यदि एक रूपया गाँव के किसी काम के लिए भेजा जाता है तो उस गाँव में 15 पैसा ही पहुँच पाता है। शेष 85 पैसे कहाँ जाता है? स्पष्ट है कि वह भ्रष्टाचार और घोटालों के रूप में व्यवस्था के संचालकों और बिचौलियों के पॉकेट में जाता है। परिवर्त्तित शासन व्यवस्था में गाँव के काम के लिए एक रूपया गाँव में ही जमा और खर्च होगा। इस रूपये को गाँव से दिल्ली और फिर दिल्ली से गाँव तक की यात्रा, जिसमें 85 पैसा भ्रष्टाचार और घोटालों में विलुप्त हो जाता है, नहीं करनी पड़ेगी। परिवर्त्तित शासन व्यवस्था की यह और अन्य विशेषताओं के आलोक में यह कहना तर्कसंगत है कि वर्त्तमान व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार का 90 से 95 नई व्यवस्था में स्वतः समाप्त हो जाएगा। **(अगले अंक में जारी)**

पाठकों से

'' राष्ट्रीय कायाकल्प'' में प्रतिपादित विश्लेषणों, विचारों और कार्यक्रमों के संबंध में आपके विचारों, सुझावों और प्रतिक्रियाओं का हम स्वागत करेंगे। इसके लिए आप हमसे निम्नलिखित रूप में संपर्क स्थापित कर सकते हैं:

1. संपादक के नाम पत्र से : पताः डा. टी. प्रसाद, 173 बी, श्रीकृष्णपुरी, पटना–800001
2. इमेल से : पताः rashtriyakayakalp@gmail.com
3. टेलीफोनः 0612–2541276 (कार्यालय)
0612– 2541885 (आवास)
4. मोबाइलः 9431815755
5. वेबसइट : www.fcsgi.org इस वेबसाइट पर आप भारतीय शासन व्यवस्था परिवर्तन विचार मंच, जिसका मुखपत्र राष्ट्रीय कायाकल्प है, के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

(नोट : डाक अथवा इमेल से प्राप्त आपके पत्रों को पूर्ण/ संक्षिप्त/संशोधित रूप में हम अपनी सुविधा के अनुसार राष्ट्रीय कायाकल्प के आने वाले अंक में यथा आवश्यक अपनी टिप्पणी के साथ प्रकाशित करेंगे)

विपक्ष की सरकार बनने या कानून बनने से व्यवस्था नहीं बदलेगी। कानून तो पहले भी बने हैं; जमींदारी उन्मूलन कानून बना, दहेज विरोधी कानून बना, अस्पृश्यता निवारण कानून बना लेकिन व्यवस्था नहीं बदली। नतीजतन स्थितियां नहीं बदलीं। व्यवस्था बदलने के लिए समाज में सुव्यवस्थित बदलाव की जरूरत है। हर क्षेत्र में क्रांति की जरूरत है। व्यवस्था बदलने पर ही हकीकत में हालात बदलेंगे।

–जयप्रकाश नारायण

भारत माँ अभी भी जंजीरों में

''सदियों से गुलामी की जंजीर में जकड़ी भारत माँ 1947 में इन जंजीरों से मुक्त नहीं हुई। ब्रिटिश संसद से पारित भारतीय स्वतंत्रता का कानून 1947 के तहत सत्ता हस्तांतरण कर अंग्रेजों ने सिर्फ इस जंजीर में लगे हुए ताले की चाभी भारतीयों के हाथों में सौंप दी। इस चाभी से ताला खोलकर भारत माँ को इन जंजीरों से मुक्त करने के बजाय 1950 के 26 जनवरी को इस ताले को बदल कर नया ताला लगा कर मुक्ति का सिर्फ अहसास कर लिया गया। वह जंजीर बदस्तूर कायम रही। बल्कि समय के साथ इन जंजीरों में जंग लगने से जकड़ के साथ और विकृतियाँ उत्पन्न हो रही है। हमें भारत माँ को वास्तव में इन जंजीरों से मुक्त कराना है, जिससे भारत माँ के शरीर में रक्त का संचार ठीक से हो सके, विभिन्न रोगों से छुटकारा मिले और अंग प्रत्यंग पुष्ट हो। भारत में आधी-अधूरी और फलतः विकृत स्वतंता के स्थान पर पूर्ण और स्वस्थ स्वतंता का आविर्भाव करना है। जन-गण की संप्रभुता को संविधान के पन्नों से निःसृत होकर जन जीवन में लाना है। और इस सब के लिए शासन व्यवस्था में तदनुरूप परिवर्त्तन लाना है।''